राव बहादुर बापूराव दादा किनखेडे व्याख्यान माला १९५२

भारतीय संस्कृति
को
गोस्वामी तुलसीदास का योगदान

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

एम्० ए०, एल० एल० बी०, डी० लिट्०

१९५३

प्रकाशक

नागपुर विश्वविद्यालय

नागपुर

FOREWORD

The lectures on "The Contribution of Tulsidas to the Culture of India" delivered by Dr. Baldev Prasad Mishra in December, 1952, in the R.B. Bapurao Dada Kinkhede Lecture Series for the year, are being published today.

Dr. Mishra has attempted in these lectures to deal with the problem—as difficult to tackle as it is rich in significance—of measuring one of the greatest literary and religious figures of Indian History in terms of his contribution to the building up of the national life of India at its highest and its deepest. This is a task for which the author is, in my judgment, well-qualified by his life-long reading, study and meditation of the works of Tulsidas,—the subject of his treatise submitted for the D. Litt. of Nagpur University being "The Philosophy of Tulsi Das (तुलसी-दर्शन)".

In the dawn of our new freedom, it is necessary that such estimations of the historical figures of the nation should be carried out objectively, but lovingly, and I hope Dr. Mishra's studies on these lines will soon be followed by others, both in Nagpur University and elsewhere.

Nagpur :
The 2nd November, 1953.

K. L. Dubey,
Vice-Chancellor,
Nagpur University.

प्राक्कथन

दिसम्बर, १९५२ में श्री बापूराव-दादा-किनखेडे-व्याख्यानमाला में डॉक्टर बलदेव प्रसादजी मिश्र के "भारतीय संस्कृति में तुलसीदासजी का योगदान" पर दिये हुए ये चार व्याख्यान आज प्रकाशित किये जा रहे हैं।

मिश्रजी ने इन व्याख्यानों में एक ऐसा प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया है जो जितना कठिन है उतना ही अर्थ-गर्भ है। इन व्याख्यानों में मिश्रजी ने भारत के साहित्यिक और धार्मिक जीवन की एक महान् मूर्ति को राष्ट्र के उच्चतम और गम्भीरतम जीवन के लिए किये गये योगदान के मापदंड से नापने का प्रयत्न किया है। यह ऐसा कार्य है जिसके लिए गोस्वामी तुलसीदासजी की कृतियों का आजीवन श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने से—लेखक महोदय सर्वथा योग्य हैं। मिश्रजी को नागपुर विश्वविद्यालय की डी० लिट्० डिग्री उनके "तुलसीदर्शन" ग्रन्थ ही पर प्राप्त हुई है।

हमारी नवीन स्वतंत्रता के प्रभात काल में इस बात की बहुत आवश्यकता है कि राष्ट्र का इतिहास बनानेवाली विभूतियों का अध्ययन और माप निष्पक्षता से, किंतु सहृदयता से, किया जावे। मुझे आशा है कि जिस दिशा में मिश्रजी ने क़दम उठाया है उस दिशा में नागपुर विश्वविद्यालय में तथा उसके बाहर भी अन्य विद्वान् भी अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य प्रारम्भ करेंगे।

नागपुर
२ नवम्बर, १९५३.

कुंजी लाल दुबे
उपकुल-पति
नागपुर विश्वविद्यालय

उपक्रमणिका

(१)

१. शब्दों का अर्थ-विकास, अर्थ-संकोच और अर्थ-विपर्यय।

२. कल्चर शब्द का अर्थ—आक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी के अनुसार। मरे और ब्राडले की डिक्शनरी के अनुसार, वेब्स्टर की डिक्शनरी के अनुसार, प्रेशम के विश्वकोष के अनुसार, मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार, टाइलर के अनुसार, राधाकृष्णन के अनुसार। कल्चर और सिविलिज़ेशन का द्वन्द्व, संस्कृति और कल्चर।

३. संस्कृति शब्द का अर्थ। उसकी तुलना—(क) मानवता से (ख) धार्मिकता से (ग) साम्प्रदायिकता से और (घ) राष्ट्रीयता से। उसकी तुलना ज्ञान-विज्ञान शास्त्र से, सौंदर्यशास्त्र से और आचार शास्त्र से। देशज और धर्मज संस्कृतियां। विश्व संस्कृति के छः भेद।

४. भारतीय संस्कृति—हिन्दू और हिन्दी संस्कृति।

(२)

१. भारतीय संस्कृति की परम्परा—श्रुति स्मृति पुराण अथवा निगम आगम पुराण वाली। यह परम्परा देशकाल पात्र से जकड़ी नहीं है और इसमें आर्य अनार्य सभी का योगदान है। व्यास और कृष्ण का युग। राम और कृष्ण। बौद्ध और जैन। राष्ट्रीयता की लहर। आचार्यों का युग। कबीर और सूर। दोनों का समन्वय तुलसी में।

२. भारतीय संस्कृति की विशेषताएं—(क) वह पंच सकारी है, सनातन है, सतत प्रवाही है, सात्विक है, समन्वयात्मक है, सर्वांगीण है (ख) वह लोक-कल्याण विधायिनी है (ग) वह आध्यात्मिकता प्रधान है (घ) वह बुद्धिपरक है। गोस्वामी जी के शब्दों में इन्हीं चारों का नाम

हुआ श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ संयुत विरति विवेक। उनके समय इन चारों का सन्तुलन बिगड़ गया था। कबीर और सूर के प्रयत्न। सफलता तुलसी में। उनका मानस समूची भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल रूप का दर्पण है।

(३)

१. गोस्वामी जी और रामकथा। रामकथा की लोक-प्रियता—उसमें काम और क्रोध का उत्कृष्टतम तथा निकृष्टतम रूप है, कल्पना की उड़ान के लिये बड़ा क्षेत्र है। रामकथा के पाठभेद—श्रमण परम्परा के तथा वैदिक परम्परा के। विलासिता वर्धक, कुतूहलवर्धक, भक्ति-वर्धक पाठभेद। कथा का प्रतीकात्मक रूप, इतिवृत्तात्मक रूप, भक्तिवर्धक रूप। नाम और रूप की महिमा के अनुसार कथा का परिमार्जन।

२. गोस्वामी जी की रामकथा। (क) वाल्मीकीय रामकथा से उसकी तुलना। (ख) लोककल्याण की दृष्टि से परिमार्जन अतएव कुतूहल और भक्ति के तत्वों का समुचित ग्रहण (ग) कल्पवाद का प्रतिपादन (घ) सत्य के त्रैविध्य का समन्वय। उसमें आदर्श नर-चरित्रों की प्रधानता है और साम्प्रदायिक विरोधों की ज़रा भी गुंजाइश नहीं है। यह काव्यमय कथा ही गोस्वामी जी का सबसे बड़ा योगदान है।

(४)

१. कथा की लपेट में दिये हुए सांस्कृतिक रत्न—(क) राम का व्यक्तित्व —उनका आदर्श शील शक्ति सौंदर्य आदि (ख) राम भक्तिपथ—उसका सर्व-सम्प्रदाय-समन्वयत्व आदि (ग) दर्शन विषयक दृष्टिकोण (घ) व्यवहार विषयक दृष्टिकोण (ङ) साहित्य विषयक दृष्टिकोण।

२. गोस्वामी जी की देन की मौलिकता—मधुमक्खी की तरह, वास्तु-विशारद की तरह, सूत्राध्यक्ष की तरह, सद्वैद्य की तरह।

३. गोस्वामी जी की देन का प्रभाव।

भारतीय संस्कृति का अर्थ

सज्जनो और देवियो,

व्याख्यानमाला का विषय है "गोस्वामी-तुलसीदास और भारतीय संस्कृति को उनकी देन"। मैं अपने इस विषय को चार खण्डों में विभक्त करूंगा। आज मैं अपनी समझ के अनुसार "भारतीय संस्कृति का अर्थ" बताऊंगा। कल "भारतीय संस्कृति का सिंहावलोकन" करूंगा। परसों "गोस्वामी तुलसीदास और उनकी रामकथा" की चर्चा करूंगा। और नरसों "भारतीय संस्कृति को गोस्वामी जी का अन्य योगदान" स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा।

भारतीय संस्कृति का क्या अर्थ है यह समझने के पहिले संस्कृति शब्द का क्या अर्थ है यह समझ लेना चाहिए और संस्कृति शब्द का अर्थ समझने के पहिले, अंग्रेजी के "कल्चर" शब्द का अर्थ समझ लेना जरूरी है। क्योंकि संस्कृत शब्द तो उसी अर्थ के द्योतन के लिए गढ़ा गया था। इस कल्चर शब्द ने विचारक जगत में इतनी गड़बड़ी मचा रखी है कि कुछ न पूछिये। कई लोग अपने ढंग के अर्थ में प्रयुक्त करके इसे मानव समाज का उद्धारक समझकर इसकी पूजा करते हैं और कई लोग कुछ दूसरा ही अर्थ समझकर इसे मानव समाज का विच्छेदक या विघातक मान लिया करते और इसे जब देखिये तब कोसा ही करते हैं।

"कल्चर" ही क्यों, भाषा में ऐसे अनेक शब्द हुआ करते हैं जिनके अर्थ में घटबढ़ होती ही रहती है। भाषा विज्ञानी लोग अर्थ विस्तार, अर्थ संकोच और अर्थ विपर्यय के बड़े सुन्दर उदाहरण बता सकते हैं। प्रसाद जी ने लिखा है कि हिन्दी का गुण्डा शब्द जब चलाया गया तब बड़े अच्छे अर्थ में व्यवहृत हुआ था। आज उसकी हालत देख लीजिये। गुरु और राजा

शब्द भी बनारसी लोगों के हाथ लगकर न जाने कहाँ से कहाँ जा पहुँचे। सैंया सरीखा पवित्र शब्द बम्बई में कैसी दरबानी कर रहा है! 'खेळा' से एक हिन्दी भाषी और एक मराठी भाषी क्या क्या अर्थ लेगा यह आप लोगों से छिपा नहीं है। कई शब्द बिगड़े तो कुछ सुधरे भी हैं। साहस ने अपनी खराबियाँ धो डाली हैं, ननद ने भी पवित्रता का जामा पहिन लिया है, मुग्ध भी अब अपनी निष्कलंकता पर मुग्ध है। सुरों और असुरों ने तो न जाने कितनी बार चोला बदला। कल की 'स्याही' को देख लीजिये, अब उसमें कालिख का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि लाल स्याही, हरी स्याही, नीली स्याही ही नहीं सुनहली स्याही भी होने लगी है। और ताज्जुब नहीं कि सफेद स्याही भी किसी दिन बरती जाने लगे।

शब्द जितना व्यापक और जिस दर्जे के अमूर्त तत्त्व का निर्देशक होगा उसके अर्थ में उतनी ही ज्यादा गड़बड़ी पायी जा सकती है। सबकी अनुभूति एक बराबर नहीं हो सकती और सबकी अभिव्यक्ति भी एक बराबर नहीं रह सकती। किसने किस शब्द के अर्थ की कहाँ तक अनुभूति की और किस हद तक वह उसकी अभिव्यक्ति कर सका है इसी के ऊहापोह में तो अनेकानेक काव्यशास्त्र उलझे रहा करते हैं।

'कल्चर' का जो अर्थ मैं समझ रहा हूँ उसकी चर्चा तो 'संस्कृति' शब्द के प्रसंग में करूंगा। आम तौर पर लोग इसका क्या अर्थ समझ रहे हैं इसकी चर्चा यहाँ किये दे रहा हूं।

किसी शब्द का अभिप्राय समझने के लिए उस शब्द के निरुक्तजन्य अर्थ को भी देखना पड़ता है और व्यवहारजन्य अर्थ को भी। कल्चर शब्द कृषि की लातिनी (Latin) धातु से बना है यह तो कोषग्रंथों से स्पष्ट ही है। उसके व्यवहारजन्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अंग्रेजी में ढेरों ग्रंथ मिलेंगे। सत्रहवीं सदी का ईजाद किया हुआ यह शब्द अब तक अनेक पलटे खा चुका है।

आक्सफर्ड के अंग्रेजी भाषा कोष के अनुसार 'कल्चर' का अर्थ है,

(१) मनस्, रुचि और आचार का संशोधन (क्रिया), (२) मनस्, रुचि और आचार के संशोधन की अवस्था, (३) सभ्यता का बौद्धिक अंग, (४) विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ ज्ञात और कथित हो चुका है उससे परिचय।[१]

इस अर्थ में जमीन की खेती दिमाग तक पहुँच गई। 'कल्चर' सामान्य धरती की कृष्टि न हुई किन्तु हृदय और मस्तिष्क, रुचि और बुद्धि की कृष्टि हो गई। यहाँ तक तो ठीक था। परन्तु केवल विचार, रुचि, और आचार का संशोधन कहने से बात साफ न होती थी। फिर, 'कल्चर' सभ्यता (सिविलिजेशन) का बौद्धिक अंग ही नहीं किन्तु नैतिक अंग के अर्थ में विशेष ग्राह्य हुआ। अतएव उपर्युक्त अर्थ खारिज किया गया और मर्रे तथा ब्राडले के अंग्रेजी शब्द कोष में इसका अर्थ हुआ (१) मनस् प्रवृत्तियों, आचारों आदि का कर्षण तथा विकास, (२) शिक्षादीक्षा द्वारा सुधार या संस्कार।[२] परन्तु इस अर्थ में भी कई अस्पष्टताएँ रह जाती हैं। किस उद्देश्य के आधारपर यह कर्षण होगा यह बात तो प्रकट ही नहीं होती।

अमरीकी वेब्स्टर साहब ने अपने कोष में लिखा कि 'कल्चर' एक क्रिया अथवा करण है जो मनुष्य के बौद्धिक अथवा चारित्रिक अंगों को व्यवस्थित करे। परन्तु क्या वह एक अवस्था नहीं है केवल क्रिया या करण ही है?

ग्रेशम के विश्व कोष से विदित होता है कि वह मनस्तत्व की संस्क्रिया और उन्नति का नाम है। उसमें यह भी लिखा है कि 'यह शब्द प्रायः सभ्यता (सिविलिजेशन) के अर्थ में व्यवहृत होता है। यद्यपि दोनों में बड़ा अन्तर

---

[१]The training and refinement of mind, tastes and manners, the condition of being thus trained and refined, the intellectual side of civilisation, the acquainting ourselves with the best that has been known and said in the world.

[२]The cultivating or development (of the mind, faculties, manners etc.), improvement or refinement by education and training.

है क्योंकि सिविलिजेशन तो कल्चर के ज्ञान नामक अंग का परिणाम मात्र है।' इस विश्वकोष के अनुसार कल्चर एक प्रयत्न ही नहीं किन्तु एक विशिष्ट स्थिति हुई। और, वह सभ्यता का ज्ञानपरक अंश नहीं किन्तु सभ्यता उसके ज्ञानपरक अंश से उद्भूत हुई।

कल्चर की इन सारी परिभाषाओं में उत्कर्ष अथवा उन्नति या कृष्टि किसे कहेंगे इसका कोई संकेत नहीं है। फिर, यह भी स्पष्ट नहीं है कि कल्चर समाज-सापेक्ष होती है कि समाज-निरपेक्ष। अतएव आइये अब कुछ दूसरे ग्रंथ भी देख लिये जायं।

धर्म और आचार के अंग्रेजी विश्वकोष से विदित होता है कि कल्चर "मानवता की अन्तरात्मा और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठापना का प्रयत्न" है।[१]

समाज-विज्ञान के विश्वकोष में कल्चर को सामाजिक परम्परा की देन (social heritage) कहा है। उसे मानसिक तथा साथ ही साथ साम्प्रदायिक माना है और लिखा है कि कल्चर में ऐसी सभी वस्तुओं, ऐसे सभी उपकरणों, ऐसे सब आचारों और अभ्यासों का समावेश है, जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति करें।[२] वस्तुओं और उपकरणों को कल्चर में कहाँ तक सम्मिलित किया जायगा यह विवादग्रस्त ही है।

अब कुछ विद्वानों के विवेचन भी देख लीजिये। धर्म और आचार के विश्वकोष के अनुसार सुप्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आरनाल्ड ने कल्चर का

---

[१] Culture is best understood intensively as humanity's effort to assert its inner and independent being.

[२] Culture consists of the body of commodities and instruments as well as of customs and bodily or mental habits which work directly or indirectly for the satisfaction of human needs.

विश्लेषण करके उसके मूलमें चार बातें पायीं--(१) अन्तरकरण की मानवता, जो पशुता से भिन्न है, (२) सतत विकासशीलता, (३) अखिल मानव समाज की सामूहिक उत्क्रान्ति, जिसमें व्यक्ति की उपेक्षा भी हो सकती है, (४) मानव की समग्र शक्तियों का विस्तार न कि धर्म सरीखी किसी एक आध शक्ति का ही।[१] इन्हीं मैथ्यूआर्नाल्ड की एक उक्ति ग्रेशम के विश्वकोष में भी दी गई है जिसके अनुसार कल्चर का अर्थ होता है "उद्देश्य-पूर्ण तथा व्यवस्थित अध्ययन"[२]। अतएव ऊपर की बात यहाँ आकर फिर गोल हो गई है। व्यक्ति की उपेक्षा भी सभी स्थितियों में जायज कैसे मानी जा सकती है और पशुत्व तथा मानवत्व के द्वन्द्व को भी कहाँ तक खींचा जा सकता है यह भी विचारणीय ही है।

समाज शास्त्र की पुस्तकों में टाइलर साहब की दी हुई कल्चर विषयक परिभाषा का बड़ा उल्लेख होता है। उसके अनुसार कल्चर समाजबद्ध मानव का वह योग्यतापुंज है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, शील, नीति, आदि सभी कुछ सम्मिलित है।[३] (देखिये आग्बर्न और निमकाफ़ की हैण्डबुक आफ सोशियालाजी।) इसके अनुसार वस्तु और उपकरण कल्चर से बाहर

---

[१]Mathew Arnold analysed culture into its four-fold root—

(*a*) as an internal condition of humanity rather than animality;

(*b*) as a growing and becoming rather than a resting and a having;

(*c*) while it was so general as to advance mankind rather than the mere individual.

(*d*) it consisted of an expansion of all his powers, instead of some one in particular, as the religious.

[२]Reading, but reading with a purpose to guide it, and with system.

[३]Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom, and any other cap-

हो गये हैं। परन्तु सु और कु के विचार को भी इसमें कोई खास गुंजाइश नहीं है और संस्क्रिया का भी कोई खास प्रश्न नहीं है। 'सोसाइटी' या समाज की सीमा कहाँ तक मानी जाय यह भी नहीं कहा गया और दृष्टि रखी गई है केवल भूत और वर्तमान तक ही।

अखिल एशियाई शिक्षण परिषद में डाक्टर राधा कृष्णन ने कल्चर का एक विचित्र सा अर्थ बताया था। उनका कहना था कि स्कूलों तथा कालेजों में जो कुछ पढ़ा जाता है, वह भुला देने के बाद जो शेष रह जाय वह है कल्चर! परिभाषा 'नेति नेति' की तरह ही दुरूह है परन्तु वह भी आखिर इस शब्द के कुछ गुण प्रकट कर ही देती है। उससे इतना तो विदित हो ही जाता है कि कल्चर अन्तःकरण से संबंधित है। बाह्य आचार उसके परिणाम भले ही हों परन्तु उसके आवश्यक अंग नहीं है। वह समाज द्वारा दी गई शिक्षा दीक्षा का परिणाम है परन्तु उसका सम्बन्ध चित्तवृत्तियों और चारित्रिक वृत्तियों से है न कि ज्ञान की विविध इकाइयों से।

अंग्रेजी साहित्य में यह शब्द सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में पहिले पहिल सुप्रसिद्ध विचारक बेकन द्वारा प्रयुक्त हुआ। व्यापक अर्थ में यह मनुष्य के पूरे आध्यात्मिक जीवन से संबंधित था—उसके नैतिक जीवन, धार्मिक जीवन, बौद्धिक जीवन, सभी से। परन्तु ईसाई विचार धारा में विषयानन्द और आत्मानन्द अथवा प्रेय और श्रेय का द्वन्द्व सुप्रसिद्ध है ही। उससे प्रभावित होकर कल्चर के अर्थ ने भी पलटे खाये। और भी कई कारण सम्मिलित हुए और परिणाम यह हुआ कि प्रकृति और पुरुष नैसर्गिकता और आध्यात्मिकता, पशुता और मनुष्यता, प्रवृत्ति और संयम, कृति और चिन्तन, बाह्य और अभ्यन्तर, प्रत्यक्ष और परोक्ष, ऐहिकता और आमुष्मिकता, प्रेय और श्रेय आदि-आदि के द्वन्द्व उपस्थित होने पर कल्चर ने परपक्ष का

---

abilities acquired by man as a member of Society.—*Hand book of Sociology*.

ही पल्ला पकड़ा। लोगों ने यदि एक ओर उसे धर्म-सम्प्रदाय (religion) तथा आचार शास्त्र (ethics) से अलग वस्तु माना तो दूसरी ओर क्रिया-शीलता और सामाजिकता से भी उसे भिन्न ही समझने लगे।

अर्थ-संकीर्णता ने 'कल्चर' और 'सिविलिजेशन' का द्वन्द्व भी खड़ा कर दिया। कल्चर का अर्थ हुआ प्रकृति साहचर्य अर्थात यों कहिये कि सादा जीवन, उच्च विचार। सिविलिजेशन का अर्थ हुआ, प्रकृति पर प्रभुत्व अथवा यों कहिये कि नागरों का सा कृत्रिम विलास-वैभव। कल्चर का संबंध हुआ विश्वशान्ति से और सिविलिजेशन का विश्व-क्रान्ति से। संस्कृति और सभ्यता में अर्थात कल्चर और सिविलिजेशन में वही विरोध उपस्थित हुआ जो ग्राम्य-जीवन (सरलकृषि-प्रधान प्राकृतिक जीवन) और नगर-जीवन (वैज्ञानिक, उद्योग प्रधान, कृत्रिमतायुक्त जटिल जीवन) में हुआ करता है। विश्व की जीवन-लक्ष्मी कल्चर और सिविलिजेशन की खींचतान में पड़ गई।

यह ज़माना सिविलिजेशन का है, सामाजिकता का है, क्रियाशीलता का है। मनुष्य को समाजबद्ध होकर रहना ही चाहिए। उसे क्रियाशील होना ही चाहिये और उसकी सारी क्रियाशीलता जन-कल्याण के उद्देश्य से होनी चाहिये। अतएव इस परिस्थिति में उस बेचारे की गुजर कहाँ जो ऊपर बताये गये द्वन्द्वों की आधार-भित्ति पर आत्मकल्याण ही के लिये चिन्तनशील होकर बैठा रहना चाहता हो। मनुष्यता का अर्थ आजकल हो गया है सामाजिक उपयोगिता। तब फिर मनुष्यता की सहायरूपा चित्तवृत्ति, कल्चर, यदि चिन्तनशील ही बनकर अथवा व्यक्तिगत शान्ति की अन्वेषिका ही बनकर रहना चाहती है तो वह इस ज़माने के लिये बिलकुल अनुपयुक्त है। इसी भावना से प्रेरित होकर लोग कह बैठते हैं कि विज्ञान व्यवसाय और रोटीवाद के इस युग में कल्चर की चीख पुकार एकदम व्यर्थ है, एकदम अप्रासंगिक है।

कल्चर के इन्हीं सद्गुणों और दुर्गुणों अथवा उसकी इन्हीं विशालताओं

और संकीर्णताओं को लेते हुए, हिन्दी के "संस्कृति" शब्द का जन्म हुआ है। हाल हाल का गढ़ा हुआ शब्द है यह। आप्टे के संस्कृत कोष में इसका कहीं पता नहीं। वसु महोदय के हिन्दी विश्वकोष में संस्कृति का अर्थ लिखा है 'सभ्यता, रहन-सहन आदि की रूढ़ि।' हिन्दी शब्दसागर में भी बिलकुल यही अर्थ दिया गया है। इसके शब्दार्थ में एक और शब्द जोड़ दिया गया है और वह है शाइस्तगी, जो उर्दू वालों के काम का है, हिन्दी वालों के काम का नहीं। हमें स्मरण है कि कलकत्ता विश्व-विद्यालय की कमला व्याख्यानमाला में भारतीय संस्कृति पर भाषण देते हुए विद्वान वक्ता ने सुझाव दिया था कि कल्चर के लिये संस्कृति शब्द न कहकर कृष्टि शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु ऐसे सुझावों के बावजूद भी संस्कृति शब्द कल्चर के लिए रूढ़ हो चुका है और संस्कृति कहते ही हमारे अंग्रेजी पढ़े भाइयों के मन में कल्चर की रूपरेखा प्रतिबिम्बित हो उठती है।

यद्यपि 'संस्कृति' गढ़ा गया कल्चर का ही भाव प्रकट करने के लिये, फिर भी वह ठहरा संस्कृत भाषा का शब्द इसलिये अपने संस्कारों से एकदम हीन होना तो उसके लिये असंभव था। प्रत्येक भाषा के अपने अलग अलग संस्कार होते हैं। इसीलिये तो कहा जाता है कि एक भाषा के शब्दों का दूसरी भाषा में अविकल अनुवाद कर लेना प्रायः असंभव ही है। बेगम सीता और महारानी सीता, गुरु वशिष्ठ और उस्ताद वशिष्ठ के उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होंगे। संस्कृति का भी यही हाल हुआ। कल्चर की परिभाषा में अनुशीलन अथवा अभ्यास की भावना प्रधान है और वह भी केवल नैतिकता तक ही जाकर। संस्कृत भाषा के संस्कारों के कारण भारतीय मस्तिष्क की माँग हुई कि संस्कृति की परिभाषा में शोधन अथवा साधना की भावना प्रधान रहे और वह नैतिकता ही को नहीं किन्तु आध्यात्मिकता को आधार शिला माने।

इस परिस्थिति में हमें चाहिए कि हम संस्कृति के संबंध में अपने स्वतंत्र

विचार भी रखें। हम कल्चर के सहारे संस्कृति को समझने का प्रयत्न न करके संस्कृति के सहारे कल्चर को समझने का प्रयत्न करें। यदि हम ऐसा करेंगे तो बहुत संभव है कि संस्कृति विषयक भ्रम आप ही आप दूर हो जायगा और वह हम सभी के लिये परम उपादेय और परम संग्राह्य वस्तु जान पड़ने लगेगी।

शब्द की उपयोगिता इसी में है कि वह अर्थ को स्पष्ट कर सके। अर्थ को स्पष्ट करने के लिये सब से उत्तम यही है कि नया गढ़ा हुआ शब्द अपने व्यावहारिक अर्थ को अपने धात्वर्थ से मिलता जुलता ही रखे। आप्टे के संस्कृत कोष में यद्यपि संस्कृति का पता नहीं तथापि उसमें 'संस्कृ' धातु का अवश्य पता है। इसी से बने हुए एक अन्य शब्द 'संस्कार' का भी उसमें पता है। उस कोष में 'संस्कृ' का अर्थ लिखा है सजाना, सँवारना, सुशिक्षित करना, पवित्र करना, माँजना, आदि।' और भी अनेक अर्थ दिये गये हैं जो उस धातु को संस्कृति की अपेक्षा संस्कारों की ओर अधिक खींच ले जाते हैं। वे हैं मंत्रपूत करना, शास्त्रानुसार विधिविधान के साथ संस्कार युक्त करना, आदि। इनसे अपना कोई मतलब नहीं है। जिन अर्थों से अपना मतलब है उन्हें देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जब कि संस्कृत का अर्थ है सजाना, संवारना, सुशिक्षित करना, पवित्र करना, माँजना, आदि, तब संस्कृति का अर्थ होगा सजावट, निखार, पवित्रीकरण, सम्मार्जन आदि। रूढ़ि में उसका अर्थ होना चाहिये 'मानव-जीवन की सजी सँवरी अथवा संशुद्धीकृत अवस्था अथवा उस अवस्था के अनुकूल मानवी अन्तर्वृत्ति।' इस दृष्टि से संस्कृति है मानव-जीवन के विचार, उच्चार, आचार का संशुद्धीकरण अथवा परिमार्जन। वह है मानव-जीवन की सजी सँवरी हुई अन्तःस्थिति। वह है मानव समाज के परिमार्जित मति, रुचि और प्रवृत्तिपुंज का नाम।

मानव-जीवन का व्यापार प्रायः मन, तन, धन, जन तक ही सीमित रहा है। मन से सम्बन्धित है ज्ञान, साधना, सदाचार! तन, धन और

जन से क्रमशः संबंधित है स्वास्थ्य, समृद्धि और सेवा। अतः ज्ञान, भावना (जिसमें ललितकलाएं भी सम्मिलित हैं) सदाचार, स्वास्थ्य (अन्न, वस्त्र, गृह आदि) समृद्धि और सेवा (कुटुम्ब सेवा, समाज सेवा, लोकसेवा आदि) विषयक सभी प्रकार की अन्तःप्रेरणाओं की परिमार्जित स्थिति का सामूहिक नाम है संस्कृति। यह परिमार्जन आत्मसाक्षात्कार को, ब्रह्म साक्षात्कार को, सच्चिदानन्द साक्षात्कार को, सत्यं शिवं सुन्दरं के साक्षात्कार को, आदर्श मान कर किया जाता है। वस्तुतः ये सब आदर्श एक ही हैं परन्तु व्यवहार में इन्हें ही "लोक कल्याण" कह लीजिये। अतएव लोक कल्याण की दृष्टि से सम्मार्जित हुई अन्तर्वृत्ति का नाम समझिये—'संस्कृति।'

प्राकृत है नैसर्गिक प्रेरणा वाली वाणी का नाम, और संस्कृत है उसकी परिमार्जित अवस्था। इसी प्रकार प्रकृति है नैसर्गिक प्रेरणाएं या प्रवृत्तियां और संस्कृति है उनकी परिमार्जित अवस्था। वाणी का अभिन्न सम्बन्ध है समाज से। उसी प्रकार संस्कृति का भी अभिन्न संबंध है समाज से। आत्मकल्याण की दृष्टि से जिसे शील या चारित्र्य कहते हैं जन-कल्याण या विश्वकल्याण की दृष्टि से उसको कहा जा सकता है संस्कृति, यद्यपि यह अवश्य है कि संस्कृति अधिक व्यापक शब्द है और उसमें सतिरुचि आदि का भी समावेश है।

कुछ लोग कृति से संस्कृति का मेल बैठा कर सम्यक् प्रकार की कृति को 'संस्कृति' कह देते हैं। उनके विचार से व्यक्ति अथवा समाज के सम्पूर्ण जीवन की प्रत्येक दिशा की सम्यक् कृति का सामूहिक नाम हुआ संस्कृति। इस स्थिति में संस्कृति के साथ सु और कु का कोई भेद ही नहीं रह जाता क्योंकि सम्यक् कृति सदैव सु ही रहेगी परन्तु व्यवहार में सुसंस्कार और कुसंस्कार की तरह सुसंस्कृति और कुसंस्कृति का भी प्रयोग होता ही है। फिर, संस्कृति कृति नहीं किन्तु अन्तःकरण की स्थिति विशेष है। अतः यह परिभाषा समीचीन नहीं जान पड़ती।

कुछ लोग संस्कृति को मानव समुदाय की अन्तः प्रतिभा की बाह्य

अभिव्यक्ति (expression of the inner genius of the people) बताते हैं। इस अर्थ में नैतिकता और आध्यात्मिकता दब सी जाती हैं। और व्यक्तिपरक अथवा वर्गपरक संस्कृतियों का प्रश्न ही उड़ जाता है। यह परिभाषा कल्चर के बजाय सिविलिजेशन का, संस्कृति के बजाय सभ्यता का, विशेष रूप से ध्यान करती हुई सी दिखाई पड़ती है।

हमने जो सीधी सी परिभाषा तय की है उसमें ये सब झगड़े नहीं आते। वह परिभाषा फिर से एक बार समझ ली जाय। अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों से प्रेरित मानवहृदय की स्वाभाविक अवस्था ही प्रकृति है। जब यह अवस्था आत्मिक ध्येय के अनुसार मानवी प्रयत्नों द्वारा परिमार्जित कर दी जाती है—मांज संवार दी जाती है—तब इसे ही संस्कृति कहते हैं। और जब सर्वांगीण प्रगति के विपरीत अवस्था उत्पन्न हो जाती है, चाहे वह निसर्ग निर्मित हो चाहे मनुष्य निर्मित, तब उसेही विकृति कहते हैं। संक्षेप में यही समझ लीजिये कि क्षुद्रव्यक्तित्व की ओर अभिमुखी वृत्ति का नाम है विकृति और आदर्शव्यक्तित्व की ओर अभिमुखी वृत्ति का नाम है संस्कृति। संस्कृति व्यक्तिगत अन्तर्वृत्ति का सामाजिक संस्करण है। मानव समाज गतिशील है और वर्गों में बंटा है। संस्कृति भी गतिशील रहती है और वर्गों में बंटी दिखाई देती है। सजी संवरी अन्तःस्थिति के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह नैसर्गिकता का एकदम तिरस्कार करके एकांगी आध्यात्मिकता का ही पल्ला पकड़े, क्रियाशीलता का तिरस्कार करके चिन्तनशीलता ही में मस्त रहे, भुक्ति की बातें त्याग कर मुक्ति ही में ध्यान दे, संग्रहशीलता का तिरस्कार करके त्यागशीलता में ही दत्तचित्त हो, प्रवृत्ति की बलि देकर निवृत्ति ही का मार्ग अपनाये। वह तो द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करती हुई आगे बढ़ेगी। इसलिये उसके सामने तो वस्तुतः कल्चर और सिविलिजेशन का भी द्वन्द्व अर्थहीन हो जाता है। उसे तो केवल एक बात का विचार कर लेना पड़ता है और वह है मांजने संवारने का मानदण्ड। इस मानदण्ड अथवा इस आदर्श के अनुकूल जो

सजाव शृंगार होगा वह संस्कृति कहायेगा और इसके प्रतिकूल जो सजाव-शृंगार होगा वह विकृति कहायेगा।

यह पहिले ही कहा गया है कि व्यावहारिक शब्दावली में 'लोककल्याण' ही संस्कृति के सजावशृंगार का स्वाभाविक मानदण्ड माना गया है। यह लोक कल्याण यद्यपि एक है, जैसा कि मानव-समाज एक है, फिर भी देशकाल पात्र भेद से विविध प्रकार का माना जाता है। इसलिये मानव-समाज की संस्कृति एक होते हुए भी उसके देशज, कालज और पात्रज भेद मान लिये जाया करते हैं। एक देश की संस्कृति के तत्त्व दूसरे देश के लिये असांस्कृतिक हो सकते हैं, एक काल की संस्कृति दूसरे काल के लिये विकृति भी बन जा सकती है, एक व्यक्ति की सांस्कृतिक कृति दूसरे के लिये अनधिकारचेष्टा भी कहा सकती है।

देशज, कालज और पात्रज संस्कृतियों की एकएक इकाइयां, उनके एक एक अवयव एक एक दृष्टान्त तक भी संस्कृति ही कहाने लगते हैं और इस परिस्थिति में तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि आजका फूल सूख कर कल का कांटा बन जाय और उस कांटे को देखकर हम संस्कृति को कोसने लग जायं। परन्तु जिस तरह रामलाल की बुराइयों के कारण हिन्दुस्तानी मात्र को बुरा नहीं कहा जा सकता और हिन्दुस्तानियों की त्रुटियों के कारण, अखिल मानवसमाज ही को त्रुटिपूर्ण नहीं माना जा सकता उसी प्रकार वर्ग संस्कृतियों की इकाइयों अथवा वर्ग संस्कृतियों की अपूर्णताओं को देखकर समूची संस्कृति का मजाक़ नहीं उड़ाया जा सकता।

एक बात और है जिसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। जनकल्याण, लोककल्याण, विश्वकल्याण आदि का जो स्वरूप है, वह निरन्तर विकसित होता जा रहा है। विश्व की गति ही ऐसी कुछ है। हमारे आदर्श की स्थिति वास्तव में गतिशील स्थिति ही होती है। अन्ततोगत्वा विश्वकल्याण और आत्मकल्याण अथवा आत्मसाक्षात्कार भी एक ही पथ के दो नाम दिखाई पड़ने लगते हैं। ये सब तत्त्वज्ञान की बातें हैं। इसीलिये व्यवहार

में हम कहते हैं कि जनकल्याण के हेतु संवारी हुई मानवी अन्तर्वृत्ति को संस्कृति कहा जाता है। और, ऐसा कहने से हमारा काम बड़े मजे में चल जाता है। इसका संकेत हम अभी अभी दे ही आये हैं।

संस्कृति के भाव का और अधिक स्पष्टीकरण करने के लिये यह समुचित जान पड़ता है कि मानवता, धार्मिकता, सांप्रदायिकता और राष्ट्रीयता से उसके साधर्म्य वैधर्म्य की भी कुछ चर्चा कर दी जाय।

मानवता और संस्कृति पर्यायवाची शब्द नहीं क्योंकि मानवता है मनुष्य का आदर्श और उस आदर्श की प्राप्ति का जो साधन है उसका नाम है संस्कृति। यह दूसरी बात है कि आदर्श भी विकासशील हो और उसके अर्थ भी समय समय पर बदलते रहें परन्तु आदर्श आदर्श ही रहेगा, अनुपलब्ध ही रहेगा, और उसकी उपलब्धि के लिये मानव-जीवन के सामूहिक रूप में जो निखार आ चुका है अथवा आप चाहें तो यों भी कह लीजिये कि उस आदर्श की जितनी दूर तक उपलब्धि हो चुकी है, उसी का नाम होगा, संस्कृति।

धर्म और संस्कृति भी पर्यायवाची शब्द नहीं। धर्म का एक अर्थ है विशिष्टगुण अर्थात् किसी भी वस्तु का वस्तुत्व। अग्नि का धर्म है जलाना। यहां दाहन ही अग्नि नामक वस्तु का वस्तुत्व अथवा विशिष्टगुण हुआ। इस अर्थ में मनुष्य का धर्म होगा मनुष्यता; आत्मा का धर्म होगा सच्चिदानन्दत्व, इत्यादि। धर्म का दूसरा अर्थ है उस विशिष्ट गुण के सम्पादन का कोई मार्ग अथवा मार्गसमूह। सत्य, अहिंसा, त्याग और परोपकार सरीखी वस्तुओं का नाम हुआ धर्म जो मनुष्यता की प्राप्ति के सार्वभौम साधन हैं। जिस किसी सामान्य नियम द्वारा मानवता के विकास में सहायता मिले वह भी धर्म कहाने लगा। शरीर स्वास्थ्य से संबंधित स्नान और दंतधावन के से नियम भी धर्म में दाखिल हो गये। चौका चूल्हा भी धर्म का अंग बन गया। धर्म के इस अर्थ से संस्कृति का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक कहे जायं तो भी विशेष अनौ-

विरोध नहीं। अन्तर यही है कि धर्म श्रद्धापरक होने के कारण रूढ़िवादी हो जाता है, संस्कृति विवेकपरक होने के कारण विकसित होती रहती और अवस्था के अनुसार व्यवस्थाएं रचा करती है।

धर्म का तीसरा अर्थ हुआ मानवता अथवा आत्मा के विशिष्ट गुणके सम्पादन का वह मार्गसमूह जो किसी व्यक्ति विशेष द्वारा अथवा वर्ग-विशेष द्वारा निर्धारित हो। ईसाई धर्म, इस्लामी धर्म, बौद्ध धर्म, जैन-धर्म, आदि इस कोटि में आते हैं। धर्म का यह अर्थ अंग्रेजी के 'रिलीजन' को समेटे बैठा है। 'रिलीजन में' मानवता के आदर्श आराध्य की कल्पना रहती है अथवा उस आदर्श को दिला सकने वाले एक सर्वशक्तिमान आराध्य की कल्पना रहती है; और उस आराध्य के प्रति श्रद्धापूर्ण उपा-सना का विधान भी रहता है। धर्म के इस तीसरे अर्थ को वस्तुतः मत या सम्प्रदाय का बड़ा भाई मानना चाहिये। ठीक वैसे ही जैसे भाषा बोली की बड़ी बहिन है। संस्कृति का धर्म के इस तीसरे अर्थ से भी काफ़ी संबंध है। मानवता के सम्पादन के मार्ग अथवा मार्गसमूह अकसर इन विभिन्न धर्मों के द्वारा ही तो प्राप्त हुआ करते हैं। एक की एकता अनेकताओं के द्वारा प्रस्फुटित हो यही तो विश्व का निगूढ़तम विधान है। परन्तु जहां इस प्रकार के धर्मों का विशेष बल पंच पकार पर—पाप, पुण्य, परलोक, परमात्मा और परमपद पर—रहता है तथा इन्हें ग्रंथ पंथ और श्रद्धा-विश्वास का सहारा देकर बढ़ाया जाता है वहां संस्कृति, अपने रूढ़ अर्थ में, केवल बुद्धि का सहारा लेकर इसी लोक के क्षेत्र में विचरण करती रहती है। उसके लिए नर ही नारायण है, वह नर समाज को छोड़ कर बैकुण्ठ नहीं मांगना चाहती किन्तु बैकुण्ठ को ही नरसमाज में उतार लाना चाहती है। वह मनःस्थिति है अवश्य परन्तु उसका संबंध मानवजीवन की विधि-निषेधमयी नैतिकता या आचारवादिता से ही नहीं अथवा कोरी साधना ही से नहीं किन्तु सर्वांगीणता से है जिसमें ज्ञान, स्वास्थ्य, समृद्धि, सभी शामिल हैं। धर्म उधार भी हो सकता है परन्तु संस्कृति एकदम नक़द माल है।

धर्म का एक चौथा अर्थ भी होता है जिसे वस्तुतः धर्म कहना ही न चाहिए। वह है एक प्रकार की धर्मान्धता जिसे साम्प्रदायिकता कहते हैं। वह है धर्म के तीसरे अर्थ में कथित जो मार्गसमूह है उनमें से किसी एक के अप्रत्यक्ष कल्पनाप्रधान अंशों पर—उन्हीं पंच मकारों पर—अन्ध-श्रद्धा और कट्टर विश्वास। ऐसी साम्प्रदायिकता से संस्कृति का मेल मिल ही नहीं सकता। साम्प्रदायिकता परलोक की कल्पना के, अथवा कल्पनाप्रसूत भविष्य के, सब्ज़बाग़ दिखाकर इसलोक की अथवा वर्तमान की उन्नति के अनेक मार्ग शिथिल कर देती है। वह मनुष्य मनुष्य को लड़वा कर विश्व-कल्याण के बदले विश्वसंहार का मार्ग ही अधिक प्रशस्त करती है। संस्कृति का वास्ता इसी लोक से है, इसी भूमि के मानव-जीवन को मांजने संवारने से है, इसलिये वह विद्वेष की ज्वाला फूंक ही नहीं सकती। यदि किसी धर्म-संस्कृति ने किसी समय ऐसा किया तो समझ लीजिये कि उसने साम्प्रदायिकता का जामा पहिन लिया है और वह अपना संस्कृतित्व खो बैठी है।

ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र, सौंदर्य शास्त्र और आचार शास्त्र से भी संस्कृति का संबंध है परन्तु संस्कृति इनमें से किसी एक के भीतर सीमाबद्ध नहीं। उसका मति, रुचि और प्रवृत्ति से संबंध है और इसीलिये उसका इन तीनों शास्त्रों से भी संबंध है परन्तु वह एक अन्तर्वृत्ति मात्र है इसलिए ज्ञान विज्ञान शास्त्र के सिद्धान्त या तत्व अथवा पदार्थ, ललित कला की वस्तुएं, लोक-कल्याण की संस्थाएं अथवा सदाचार के नियम, उस संस्कृति के परिणाम अथवा उसके द्योतक पदार्थ भले ही समझे जायं किन्तु संस्कृति के अंग नहीं माने जा सकते जैसा कि वे उपर्युक्त तीनों शास्त्रों के अंग माने जा सकते हैं।

राष्ट्रीयता और संस्कृति भी पर्यायवाची शब्द नहीं हैं यद्यपि दोनों का विकास यूरोप से और मध्ययुग से ही विशेषतया संबंधित है। राष्ट्रीयता सामूहिकता की एक भावना है जिसका निर्माण विशेषतः राजनैतिक कारणों

से हुआ करता है। इसके निर्माण में कुछ भौगोलिक इकाइयां काम करती हैं, यथा एक स्थलसीमा, एक शासनव्यवस्था, एक ही भांति की अर्थव्यवस्था, आदि। कुछ ऐतिहासिक इकाइयां काम करती हैं, यथा, एक जाति परम्परा, एक सम्प्रदाय परम्परा, एक आचार-परम्परा, आदि। संस्कृति भी सामूहिकता की भावना को लेकर चलती है। परन्तु उसका निर्माण राजनैतिक कारणों से नहीं किन्तु उस समूह अथवा लोक या समाज के कल्याण के हेतु व्यक्ति के आन्तरिक उन्नयन का भाव लेकर होता है। इसीलिये वह राष्ट्रीयता की सीमा लांघ कर अतिराष्ट्रीय हो जाया करती है। फिर, राष्ट्रीयता के लिये ऐतिहासिक इकाइयां परम आवश्यक नहीं मानी गई हैं किन्तु संस्कृति में तो परम्परा का बहुत प्राधान्य रहा करता है। वस्तुतः वह समाज द्वारा प्रदत्त परम्परागत उत्तराधिकार ही तो है। राष्ट्रीयता की भावना दृढ़ करने में संस्कृति एक परम उपयोगी इकाई का कार्य अवश्य कर सकती है और इस समय भारत को इसी इकाई की बड़ी उपयोगिता भी जान पड़ रही है। इसीलिये तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीयों ने भारतीय संस्कृति की रट लगानी प्रारम्भ की है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति एक ही बातें हैं। संस्कृति विश्वमानव के कल्याण की वस्तु है अतएव उसमें राष्ट्रीयता की सी संकीर्णता हो नहीं सकती। भारत की राष्ट्रीयता भले ही आज कटक से अटक तक न फैल कर बीच ही में अटक गई हो परन्तु भारतीय संस्कृति अब भी अन्तरराष्ट्रीयता के अनेक क्षेत्र अपनाये हुए है।

मानवेतर जीवों का जीवन प्रकृति द्वारा परिचालित होता है इसलिए उनमें तो प्रकृति ही प्रकृति का खेल है। वहां संस्कृति या विकृति का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य ही का ऐसा समाज है जिसमें संस्कृति के दर्शन हो सकते हैं। यदि वह कोई कृति है तो समझिये कि वह नरनिर्मित अन्तः शोधन की कला है जिसकी साधना जनकल्याण के लिये की जाती है।

जब कि मानवसमाज एक है तब उसकी संस्कृति भी एक ही होनी चाहिये

परन्तु यह पहिले ही कहा जा चुका है कि जैसे एक मानवसमाज अनेक वर्गों में विभक्त मिला करता है वैसे ही एक संस्कृति भी अनेक वर्गों में विभक्त दिखाई देती है। कुछ वर्ग भौगोलिक कारणों से बने और कुछ ऐतिहासिक कारणों से। शासन भेद, समाज भेद और भाषा भेद के कारण देशीज संस्कृतियों ने प्रधानता पाई; कुल-परम्परा, आचार-परम्परा, सम्प्रदाय परम्परा आदि के भेद के कारण धर्मज संस्कृतियों ने प्रधानता पाई। देशज और धर्मज संस्कृतियों का पारस्परिक गठ-बंधन भी हुआ और इस तरह विश्वसंस्कृति मोटे रूप से छः वर्गों में विभक्त हुई जिनका नामकरण यों किया जा सकता है :—

(१) अनार्य (अफ्रीकी तथा दक्षिण द्वीपसमूही) संस्कृति
(२) आर्य (भारतीय) संस्कृति
(३) मंगोल (चीनी जापानी) संस्कृति
(४) ईसाई (यूरो अमरीकी) संस्कृति
(५) इस्लामी (अरबी फ़ारसी) संस्कृति
(६) कम्यूनिस्ट (रूसी) संस्कृति।

अनार्य संस्कृति, कदाचित निरक्षर होने के कारण, अप्रबुद्ध है। मंगोल संस्कृति विशेषतः अपनी ही सीमा में आबद्ध है और आर्य बौद्धों की संस्कृति से पर्याप्त प्रभावित है। काले और पीले लोगों की ये संस्कृतियां तो बची हुई भी हैं। लाल लोगों की तो संस्कृति ही नगण्य हो गई। रहे श्वेत लोग सो उन्हीं की संस्कृति के शेष चार रूप ऊपर बताये गये हैं। ये चारों रूप अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। और भारत में तो इन चारों का सम्पर्क, संघर्ष और समन्वय सभी कुछ हुआ और होता जा रहा है। भारत स्थित इसी समन्वित संस्कृति का नाम है भारतीय संस्कृति।

जब ईसाई, इस्लामी और कम्यूनिस्ट संस्कृतियों का सम्पर्क नहीं था तब भी भारतीय संस्कृति की समन्वय साधना जाग्रत ही थी। अपनी अन्तः प्रतिभा के आधार पर उसकी वह समन्वय साधना अब भी चल ही

रही है। जिसे जीवित रहना है उसे अनुकूल का ग्रहण और प्रतिकूल का परित्याग करते रहना ही पड़ेगा। जीवित शरीर का उदाहरण ही देख लीजिये। भोजन का ग्रहण और मल का त्याग तो उसका नित्य का क्रम ही है। फिर, यदि अतीत संस्कृति के गुणगान गाये जा रहे हों तो उसका अर्थ केवल इतना ही समझना चाहिए कि हम स्वतंत्र भारत की उस स्वर्ण-परम्परा का श्रद्धापूर्ण स्मरण कर रहे हैं जिसमें अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र को—अखिल विश्व को—भी कुछ अमर संदेश देने की क्षमता थी। इससे अधिक और कुछ सोच लेना अनुचित होगा।

स्वतंत्र भारत की वह अतीत संस्कृति हिन्दू संस्कृति थी—आज की हिन्दू संस्कृति नहीं, उस जमाने की हिन्दू संस्कृति। सिंधु के इस पार वालों को, विदेशी लोग हिन्दू ही तो कहते थे। विदेशी आक्रमणों के कारण उस हिन्दू समाज को विश्वकल्याण के बदले हिन्दूकल्याण की बात पर विशेष बल देना पड़ा। अतएव उस समाज की संस्कृति उसी सांचे में ढल चली। विदेशी संस्कृतियों से इसने खूब टक्करें ली। कुछ अपनी चीजें उन्हें दीं, कुछ उनकी चीजें स्वतः लीं; परन्तु यह सब हुआ बहुत संकोच के साथ। इसलिये स्वभावतः ही यह एक साम्प्रदायिक संस्कृति के रूप में भी चल निकली। ऐसा होने से उसमें स्वभावतः ही कुछ संकीर्णताएं भी आ गईं। परन्तु यह बात नहीं है कि उसकी विशालता एकदम उड़ गई हो। अपनी इसी विशालता के बल पर वह इस हजार साल की पराधीनता में भी न केवल अपने को जीवित जाग्रत ही रख सकी वरन् ऐसा बल भी प्राप्त कर सकी जिसके सहारे उसने इस पराधीनता को उखाड़ भी फेंका। उसकी इस विशालता के बल पर ही आज की भारतीय संस्कृति विलस रही है, जिसे हिन्दू संस्कृति भले ही न कहा जाय परन्तु हिन्दी संस्कृति बड़े मजे में कहा जा सकता है। यह हिन्दी संस्कृति अब केवल हिन्दुओं की नहीं किन्तु हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी भारतीयों की अपनी वस्तु है।

इस प्रसंग में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज'

(Discovery of India) नामक पुस्तक में जो विचार व्यक्त किये हैं—उनकी कुछ चर्चा कर देना अनुचित न होगा। वे लिखते हैं कि व्यापक अर्थ में हिन्दुत्व का मतलब भारतीय संस्कृति भले ही हो सकता हो परन्तु आज हिन्दुत्व का अर्थ कुछ एक विशिष्ट धार्मिक भावनाओं के साथ सम्बद्ध होकर रह गया है। अतएव 'हिन्दू संस्कृति' की जगह 'हिन्दी संस्कृति' का प्रयोग उत्तम होगा। उन्हें हिन्दी अथवा भारतीय संस्कृति का पूर्ण गर्व है[१] वे जानते हैं कि सच्ची अन्तरराष्ट्रीयता भिन्न भिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों के द्वारा ही विकसित हो सकती है।[२] अतएव वे भारतीय संस्कृति के अस्तित्व और विकास के पूर्ण पक्षपाती हैं। हां, उनका यह ध्यान अवश्य रहा करता है कि इसमें साम्प्रदायिकता अथवा कट्टर राष्ट्रीयता की संकीर्णता न बढ़ने पावे इसीलिये वे कभी कभी इसके प्रति पाठकों का उत्साह भी ठण्डा कर दिया करते हैं। और कभी कभी कुछ नये सिरे की सी मिश्र संस्कृति (composite culture) की भी बात कह जाते हैं। परन्तु वे अच्छी तरह जानते हैं कि भारतीय संस्कृति किसी काल विशेष की संस्कृति को नहीं कहा जा सकता। वह तो उस प्रवहमान धारा का नाम है जो प्राग्वैदिक काल से बहती चली आई है और जिसमें वैदिक अवैदिक, भारतीय अभारतीय अनेक निर्झरों का संगम होता चला है। इसके विकास की बुनियाद रही है समन्वय की प्रवृत्ति।[३] इसने अभारतीय संस्कृतियों के घात प्रतिघात सहते हुए भी अपना व्यक्तित्व बनाये रखने की क्षमता पाई है।[४]

---

[१] We are proud of our people, our culture and tradition—page 487.

[२] Real internationalism has to grow out of national cultures.

[३] Some inner urge towards synthesis was the dominent feature of Indian Cultural Development—Page 53.

[४] Though she influenced them and was influenced by them, her cultural basis was strong enough to endure.—page 30.

भारतीय संस्कृति आज दिन भी एकदम राष्ट्रीय संस्कृति नहीं है। वह अन्तरराष्ट्रीय कही जा सकती है। अतिराष्ट्रीय तो वह निश्चय ही है। इसीलिये उसके दर्शन आज हमें न केवल नैपाल, लंका आदि के देशों में किन्तु पाकिस्तान आदि के स्थलोंमें भी बड़े मजे में हो सकते हैं। तिब्बत, ब्रह्मदेश, थाईलैण्ड, इण्डोचाइना, इण्डोनेशिया, आदि में भी कभी उसका बोलबाला था। यही क्यों, एशिया, यूरोप और आफ्रिका के प्रायः सभी देशों में और सुदूर अमेरिका तक उसका संदेश किसी जमाने में पहुंच चुका है और आज भी पहुंच रहा है। विश्वकल्याण के लिये यह संस्कृति पहिले भी आवश्यक थी, आज भी आवश्यक है।

विश्व का एकोऽहं, बहुस्याम होकर ही रहा है। उद्यान की विविधता ही में सौंदर्य का एकत्व खिलता है। प्रत्येक संस्कृति यदि इस संसार में विद्यमान है तो समझिये कि वह अपना निश्चित उद्देश्य लेकर ही विद्यमान है। भारतीय संस्कृति तो विशेष रूप से इसीलिये विद्यमान है। जो भारतीय, भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान न होंगे, उनके लिये कम से कम इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि वे मानव एकत्व के उद्यान का सौंदर्य समझ पाने के अधिकारी ही नहीं रह गये।

(२) भारतीय संस्कृति का सिंहावलोकन

जिस प्रकार भाषा न सर्वांग रूप से गढ़ी जा सकती है और न सर्वांग रूप से किसी राष्ट्र पर मढ़ी जा सकती है उसी प्रकार संस्कृति भी न तो सर्वांग रूप से गढ़ी ही जा सकती और न मढ़ी ही जा सकती है। समाज सम्बद्धता की व्यावहारिक सुविधा के लिए दोनों का जन्म हुआ और समाज की विकासशीलता के कारण दोनों का विकास भी होता रहता है। इस विकास में कुछ विदेशी तत्व अपना भी लिये जाते हैं, कुछ नये तत्व गढ़ भी लिये जाते हैं, और कभी कभी ऐसे तत्व वर्ग विशेष पर मढ़ भी दिये जाते हैं; परन्तु यह सब होता है तब ही जब वह भाषा अथवा संस्कृति की स्वाभाविक परम्परागत प्रकृति के अनुकूल हो। भारत के लिये 'हिन्दुस्तानी'-भाषा गढ़ने और मढ़ने का भगीरथ प्रयत्न हुआ परन्तु क्या कोई सफलता मिल पाई? अन्त में यही तय हुआ कि भारत की राष्ट्र-भाषा वह है जो बहुजन मान्य तथा परम्परागत हो। हां, उसके द्वार उसकी प्रवृत्ति और पाचन शक्ति के अनुसार परकीय अथवा आवश्यकतानुसार गढ़े हुए शब्दों के पचा लेने के लिये अवश्य उन्मुक्त मान लिये गये जैसे कि वे थे ही। भारत की राष्ट्र संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति के रूप निर्धारण के लिये भी यही मानदण्ड व्यवहार में लाना पड़ेगा।

इस परिस्थिति में भारतीय संस्कृति की परम्परागत विशेषताओं पर ध्यान दिये बिना हमारा काम चल ही नहीं सकता। परम्परागत विशेषताओं को समझने के लिए हमें पूरे सांस्कृतिक इतिहास का सिंहावलोकन करना पड़ेगा। समयाभाव से मैं यह कार्य अति संक्षेप में ही करूँगा।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास कब से प्रारम्भ होता है यह कहना असंभव है। मनुष्य की एक पीढ़ी तो बीस साल में खत्म हो जाती है। उसका

जीवन अधिक से अधिक एक सौ बीस साल समझ लीजिये। उसकी बनाई हुई संस्थाएँ यदि आचार व्यवहार के रूप में रही आईं तो उनका इतिहास अपनी तथ्यता के लिए बाह्य साधनों की अपेक्षा रखेगा। वे साधन यदि ईंट गारे के हुए तो हजार दो हजार साल में ढह ही जायंगे। परन्तु यदि अक्षरों के हुए तो अ-क्षर बनकर युगों युगों तक चमक सकते हैं। भारत की प्राचीन संस्कृति जिन अक्षरों में उतरी है उनका इतना विस्तार और इतना महत्व रहा है कि कुछ न पूछिये। सम्पूर्ण ज्ञान के प्रतीक होकर वे वेद कहाये। वे अनादि और अनन्त भी माने जाते हैं। अपनी व्यापकता में वे शब्द-ब्रह्म, ब्रह्म के शब्दमय रूप, भी कहे गये हैं। संहिता भाग ही वेद होकर नहीं रह गया किन्तु ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि के ग्रंथ भी वैदिक साहित्य में परिगणित हुए। वेद के साथ वेदांग भी बढ़े, वेदोपांग भी बढ़े, उपवेद भी बढ़े और फिर उन्हीं का उपबृंहण करते हुए—विस्तार-सा करते हुए, इतिहास और पुराण तथा आचारशास्त्र और तंत्रशास्त्र अथवा यों कहिये कि स्मृति और आगम ग्रंथ तैयार हुए।

कुछ लोग केवल संहिताओं ही को वेद मानते हैं, कुछ लोग ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद को भी उसमें सम्मिलित कर लेते हैं, कुछ लोग श्रुति-स्मृति, पुराण सभी को वेद कह देते हैं। कुछ लोग उपर्युक्त सभी साहित्य को 'शास्त्र' संज्ञा देकर मान्य की कोटि में रख देते हैं और कार्याकार्य व्यवस्थिति के लिए इसी 'शास्त्र' की प्रामाणिकता पर जोर देते हैं। इस शास्त्र में क्षेपक भी मिलते चले गये हैं और परस्पर विरोधी बातों की भी कमी नहीं है। इसीलिए उन्हीं शास्त्रों में यह भी कह दिया गया है कि "केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः, युक्तिहीन विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥"

परीक्षकों के लिए यह पता लगाना कठिन नहीं है कि इस विशाल साहित्य में कौन ग्रंथ प्रामाणिक माने जायं कौन नहीं तथा किस ग्रंथ को कहाँ तक प्राचीन माना जाय और किस ग्रंथ को कहाँ तक नवीन। हमारा भी एक अनुमान है। हम समझते हैं कि परम्परा से चली आई हुई व्यास

विषयक जो जनश्रुति है उसका हम एकदम बहिष्कार क्यों कर दें। भगवान श्रीकृष्ण का समय निश्चय ही तीन हजार वर्ष पूर्व का है। जनश्रुति कहती है कि वे पाँच हजार वर्ष पूर्व हुए और व्यास जी इनके समकालीन थे तथा इन्हीं व्यास जी ने वेदों का व्यास किया, वर्ग विभाग किया। उस समय तक अखिल भारत का जो वांग्मय निर्मित हो गया था उसे संकलित करके व्यास जी ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आदि आदि का रूप दिया; भिन्न भिन्न प्रकार के शास्त्रों (शब्दशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि) की भी पद्धति का निर्माण किया अथवा कराया तथा इस वैदिक साहित्य की व्यवस्था के अतिरिक्त लोक गाथाओं का सहारा लेकर लौकिक साहित्य की भी सृष्टि की जिसमें महाभारत और पुराण आदि आते हैं। लौकिक साहित्य के आदि-प्रवर्तक महर्षि वाल्मीकि अथवा च्यवन ऋषि थे जिन्होंने रामायण लिखी ? वे सम्भवतः व्यासजी से कुछ ही पूर्व रहे होंगे। आज की रामायण और महाभारत में तथा आज के उपनिषदों और आज के पुराणों में बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये हैं। यह अलग बात है परन्तु इनकी आदि-व्यवस्था का श्रेय निश्चय ही व्यासजी को है। श्रुति साहित्य अथवा निगम साहित्य व्यासजी के समय तक निर्मित हो चुका था। पुराण साहित्य उनकी प्रेरणा से, उनके बाद बढ़ा। इस साहित्य के दो ग्रंथ इतिहास माने गये क्योंकि, मेरे विचार से, वे उन महापुरुषों के जीवन चरित्र थे जो उन दो ग्रंथकर्ताओं के समय में विद्यमान थे। आचार और साधना के ग्रंथों, स्मृतियों, पाँचरात्रों, तंत्रों आदि का कुछ न कुछ रूप उस समय भी रहा है परन्तु उनका विकास बहुत आगे चलकर हुआ होगा ऐसा मेरा अनुमान है।

आचार्यों (शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि) के पहिले और कुमारिल आदि धुरंधर वैदिकों के भी पहिले 'श्रुतिस्मृति पुराण' अथवा 'आगम निगम पुराण' एक सुदृढ़ परिपाटी बन चुकी थी। और इसी के बल पर आचार्यों ने वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान कराया था। आचार्यों के आविर्भाव के पहिले का सांस्कृतिक काल तीन मोटे-मोटे भागों में विभक्त

किया जा सकता है । पहिला है निगम काल अथवा वैदिक काल, दूसरा है पुराण-इतिहासकाल और तीसरा है, आगम काल अथवा स्मृति या तंत्र काल। पहिला विशेषतः ज्ञानकाण्ड का साहित्य था, दूसरा विशेषतः उपासना काण्ड का साहित्य था और तीसरा विशेषतः कर्मकाण्ड का साहित्य समझिये । इन तीनों में भी विशेषतः पहिले साहित्य का काल ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह प्रागैतिसाहिक काल से चलकर वेद-व्यास के समय तक पहुँचा है । भारतीय संस्कृति की विशेषताओं की जड़ इसी काल में जमी थी ।

इस काल के साहित्य के अनुशीलन से हमें पता लगता है कि उस समय की संस्कृति बाहर कहीं से नहीं आई किन्तु अनादि काल से विशुद्ध भारतीय ही रही है । समन्वय बुद्धि को उसने प्रथम से ही सम्मान दिया है इसीलिए उसने उच्चस्वर से कहा है—"एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति इन्द्रं यमं मातरिश्वान माहुः ।" वह संसार में ही उलझी नहीं रही किन्तु अमृत तत्व की खोज में पहले ही से रही है । "येनाह नामृतं स्याम् किं तेन कुर्याम्" यह उसका सिद्धान्त रहा है । "सत्यमेव जयते नानृतं" ही उसकी आधारशिला रही है । बुद्धिवाद को आश्रय देते हुए उसी ने पुकारकर कहा—"कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः, उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ।" उसका गायत्री मंत्र बुद्धिवादका सुन्दर विजयघोष है । सात्विक सर्वसहत्व उसे इतना रुचा है कि उसने विविध पद्धतियों को उखाड़ फेंकने के बजाय उन्हें एक सुन्दर माला में ग्रथित कर देने में ही अपनी शोभा मानी है । वह न तो किसी देश विशेष (देश विशेष) से सम्बद्ध रही, न काल विशेष और न पात्र विशेष से । हाँ, वह एक भाषा-विशेष से अवश्य सम्बद्ध रही है जो थी भारत की भारती इसीलिए उसे भारतीय संस्कृति कहा जा रहा है परन्तु थी वह विश्वकल्याण के लिए । इसीलिए ऋषियों ने कहा "कृण्वन्तो विश्वमार्यं ।"

उनका यह आदेश ही सूचित कर रहा है कि आर्य शब्द किसी जाति विशेष से सम्बन्धित नहीं है । अनेकानेक प्रमाण इस बात को सिद्ध करने के लिए

विद्यमान हैं कि आर्य शब्द सुसंस्कृति सम्पन्न व्यक्तियों के लिए व्यवहृत होता था। भारत में उस समय दो वर्ण के लोग विद्यमान थे—एक गौरवर्ण के उत्तरी और एक श्यामवर्ण के दक्षिणी। संभव है कि गौर वर्ण के लोग कश्मीर पंजाब और उत्तर प्रदेश के हिमालय तीरवर्त्ती स्थानों में या सप्त सिंधु के इलाकों में—रहते हों। उनकी अपनी अलग संस्कृति थी। उस संस्कृति ने, दैव संयोग से, साक्षरता का रूप पाया इसलिए वह फूली फली। वही आर्य संस्कृति कहाई। शेष लोगों की संस्कृति अनार्य संस्कृति कही गई। कौन कह सकता है कि वे ही अनार्य उत्तर के यक्ष और दक्षिण के रक्ष न रहे हों। कौन कह सकता है कि नगस्थ अनार्य नाग नहीं कहाये और वनस्थ अनार्य वानर नहीं कहाये। वा-नर और कि-नर क्या एक ही अर्थ का द्योतन नहीं करते? यह सब बड़े रोचक अनुसंधान का विषय है परन्तु इस समय हमें इस अनुसंधान से कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो इस समय इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि इन विभिन्न जातियों की भी अपनी-अपनी संस्कृतियाँ थीं जिनके स्वस्थ तत्वों को आर्यों ने प्रसन्नतापूर्वक अपनाया है। यही नहीं, कई कुटुम्बों में उन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये और इस प्रकार एक मिली जुली संस्कृति की नींव डाली, जिसका विशेष रूप हमें पौराणिक साहित्य में देखने को मिलता है।

सागरमंथन की कथा का और अर्थ चाहे जो हो परन्तु एक अर्थ यह भी द्योतित होता है कि आर्यों और अनार्यों, दोनों ने ही मिलकर सामाजिक जीवन का मंथन किया था और भविष्य कल्याण के लिए सांस्कृतिक रत्न निकाले थे। इसी दृष्टि से तो दोनों वर्णवालों को एक ही मूल पुरुष कश्यप की संतान माना गया है।

कश्यप ऋषि काल्पनिक है कि ऐतिहासिक यह कहना जरा कठिन है। पंचांगों (पंच तत्वों) के संक्रम और प्रतिसंक्रम की शक्ति रखनेवाली मूल प्रकृति का सर्वोत्तम प्रतीक कच्छप या कश्यप ही हो सकता है। कश्मीर इसीलिए कश्यप मेरु कहाया क्योंकि वहीं जलप्लावन के बाद मानव की

आदिम सभ्यता का विकास स्थल प्राप्त हुआ होगा। मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह और वामन का संबंध इन्हीं कश्यपजी और कश्यपमेरु के आसपास की स्थली से है। मानव और दानव दोनों ही कश्यप की संतान हैं परन्तु उन्हीं कश्यप के आशीर्वाद से दानवी ऐश्वर्य की पराजय हुई और मानवी ऐश्वर्य आगे बढ़ा। इस जय-पराजय में दो जातियों ही का नहीं किन्तु दो संस्कृतियों का भी संघर्ष स्पष्ट है। हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद तथा बलि और वामन के आख्यान उस समय की कई बातों पर प्रकाश डाल सकते हैं।

उस युग की आर्य संस्कृति का प्रचार प्रसार ऋषियों के हाथ था। उत्तर की ओर हिमालय के आसपास वशिष्ठ जी का आश्रम था। नीचे उतरकर उनके नाती पराशर जी और पन्ती व्यास जी का स्थान था। मध्य में प्रयाग पर भरद्वाज जी का आश्रम था। ब्रह्मावर्त में वाल्मीकि जी का, बक्सर के पास विश्वामित्र जी का, गंगासागर के पास कपिल मुनि का, इधर नर्मदा के तट पर भृगु ऋषि का, चित्रकूट में अत्रि ऋषि का, ठेठ दक्षिण में अगस्त्य ऋषि का निवास था। और भी अनेक ऋषि इस भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में रह रहे थे। इनमें से अनेक एक एक सांस्कृतिक विश्वविद्यालय के संचालक थे। एक-एक की अलग अलग शाखा चलती थी, एक-एक के अलग अलग गोत्र चलते थे। यह व्यवस्था अनार्य लोग न कर पाये। वे ऐन्द्रिय सुखों ही में विशेषतः मस्त रहे। इसलिए आर्य संस्कृति ही आगे बढ़ निकली और उसने अनार्य संस्कृति के सब स्वस्थ तत्व आत्मसात् करके उसे एकदम नाम शेष सा कर दिया।

ऋषियों की वह संस्कृति तपोवनों की संस्कृति थी। उसमें तप की प्रधानता थी, यज्ञ की प्रधानता थी। आर्य नरेशों को अपनी समृद्धि के लिए तप और यज्ञ की दीक्षा लेनी पड़ती थी, अनार्य नरेशों को भी अपनी समृद्धि के लिए तप और यज्ञ की दीक्षा लेनी पड़ती थी। वैदिक साहित्य के अदृश्य देवताओं पर जिन्हें श्रद्धा रही वे आर्यत्व सम्पन्न माने गये। जिन्हें श्रद्धा न रही वे आसुरी प्रभाव वाले समझ लिये गये। परन्तु अदृश्य देवताओं

की विधानमयी मान्यता के साथ तप और यज्ञ का विस्तृत आडम्बर उनसे ही सध सकता था जो तपोवनों में दीक्षित हो चुके हों। शेष लोगों के संगठन और कल्याण का क्या उपाय हो? आज से पाँच हज़ार साल पहिले के दो महापुरुषों ने इस ओर ध्यान दिया। एक थे युगकर्ता अथवा युगनिर्म्माता भगवान श्री कृष्ण वासुदेव और दूसरे थे युगद्रष्टा भगवान श्री कृष्ण-द्वैपायन वेद व्यास। प्रथम तो आर्य संतान होकर अनार्य आभीरों में पले थे और दूसरे आर्य पिता तथा कैवर्तकन्या--(अनार्य माता?) की संतान थे। प्रथम ने अपनी उक्तियों और कृतियों के द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से भारत की सांस्कृतिक धारा को नई दिशाएँ दिखाईं और दूसरे ने वेदों का व्यास करते हुए भी पुराणों की ऐसी परम्परा स्थापित कर दी जिससे तपोवनों से दूर रहनेवाला सर्वसाधारण वर्ग भी आर्यत्व के रंग में रंग गया। पुराणों ने जनभावना को नये आदर्श दिये और देवताओं को नया चोला दिया। उन्होंने संस्कृति के तत्वों को ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ संबद्ध करके कथारस की लपेट में जनसाधारण के पास तक पहुँचाना प्रारम्भ किया। पुराणों की परम्परा व्यास के शिष्यवर्ग में खूब चली। नैमिषारण्य में तो बरसों तक पुराणों का विस्तार होता रहा।

व्यासजी के प्रभाव से उनके समसामयिक भगवान श्री कृष्णचन्द्र का चरित्र स्वभावतः ही बहुत उदात्त वर्णों में चित्रित हुआ। काव्यक्षेत्र में व्यासजी के ही समान प्रतिभावान महर्षि वाल्मीकि के प्रसाद से उनके समसामयिक भगवान श्री रामचन्द्र का चरित्र भी काफ़ी आकर्षक ढंग पर सामने आया। परन्तु वाल्मीकि जी की परम्परा उस तरह नहीं चली जैसी व्यास जी की। परिणाम यह हुआ कि कृष्ण भक्ति के विविध सम्प्रदाय भी स्थापित हो गये और कृष्ण चरित्र पर इतना कह डाला गया कि रामचरित्र दब सा गया। फिर भी दोनों कवियों की कृपा से इन दोनों ने जनसाधारण में इतना आकर्षण उत्पन्न किया कि इनके आगे सभी वैदिक देवता दब गये। इनकी उपासना ने तप और यज्ञ सभी पीछे हटा दिया। सर्वसाधारण में

पूजा और अर्चा का मान बढ़ चला। आसुरी प्रवृत्तियाँ हटीं, दैवी प्रवृत्तियाँ घर करने लगीं। वैदिक विधान की जिस जटिलता के कारण मनु को कहना पड़ा था कि आर्यों के कई अंग कट कट कर आर्यों से अलग हो गये हैं, पौराणिक विधान की वैसी ही सरलता के कारण भागवतकार ने प्रसन्न होकर स्वीकार किया है कि उनमें से अनेक अंग फिर शुद्ध होकर जुड़ गये हैं।

राम और कृष्ण दृश्य देव थे---ऐतिहासिक मनुष्य थे। वे भारत के थे भारतीयों के थे फिर भी ऐसे ऊंचे चरित्र के थे कि वे विश्व भर की आँखों के तारे समझे जा सकते थे। उनकी लीलाएँ जीवन के हर एक क्षेत्र को छूती हुई इस तरह चली थी कि हरएक स्तर के मनुष्य के मन में उनके प्रति आकर्षण पैदा हो सकता था। उनमें अद्भुत शक्ति थी, अद्भुतशील था, अद्भुत सौंदर्य था। समर्थ कवियों की कलम से वह चरित्र और उज्ज्वल होकर निखर उठा। भारतीय संस्कृति उसके रंग में रंग उठी।

सामूहिक साधना के साथ ही साथ वैयक्तिक साधना का भी प्रश्न चला। फलतः अनेकानेक तंत्र सामने आये। कहा जाता है कि शिव और शक्ति की पूजा अनार्यों की देन है। कुछ लोग विष्णु पूजा और सभी प्रकार की पूजाओं को अनार्यों की देन मानते हैं। वस्तु से प्रभावित आर्यों ने सूर्य को महत्व दिया था और क्रिया से प्रभावित आर्यों ने अग्नि को। इसी प्रकार वस्तु से प्रभावित अनार्यों ने बूढ़ादेव (पुराण-पुरुष) को महत्व दिया था और क्रिया से प्रभावित अनार्यों ने महाकाल महादेव को। बूढ़ादेव ही विष्णु होकर सूर्य से समन्वित हो गये और महाकाल ही शिव महादेव होकर अग्नि से समन्वित हो गये। इस तरह उनकी समन्वित कल्पनाएँ बढ़ निकलीं। ये सब पुरुष-प्रधान जातियाँ थीं जिन्होंने आराध्य का भी पुरुषभाव ही स्वीकार किया। परन्तु कुछ जातियाँ ऐसी भी थीं जिन्होंने शक्ति को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया और उन्होंने महाकाल की महाकाली के रूप में कल्पना की। व्यक्तिगत साधना के लिए सामाजिक बन्धन का उतना खयाल न हो सकता था। इसलिये दक्षिणाचार वामाचार सभी तरह की तान्त्रिक साधनाएँ सामने

आई। सामूहिक व्यवस्था के लिए स्मृतियों का जोर बढ़ा। भाँति-भाँति के आचार शास्त्र बने—भाँति भाँति की पूजा पद्धतियाँ बनीं।

कृष्ण भगवान के बाद लगभग ढाई हजार वर्षों का युग पुराण-पण्डितों का युग था। साम्प्रदायिक साधकों का भी आविर्भाव उस युग में हो चुका था। ऐसे ही अवसर पर दो नई विभूतियों ने इस भारत में अवतार लिया। वे थे श्री महावीर स्वामी और श्री गौतम बुद्ध। दोनों ने वैदिक रूढ़िवाद के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया। दोनों ने अहिंसा को बड़ा महत्व दिया। दोनों ने परलोक की अपेक्षा इस लोक को, देव की अपेक्षा मानव को, उक्ति की अपेक्षा कृति को, ऐश्वर्य की अपेक्षा अपरिग्रह को और चिन्तन की अपेक्षा चारित्र्य को अधिक महत्व दिया। दोनों ने जनकल्याण को, सर्वसाधारण के कल्याण को—अपना प्रधान लक्ष्य बनाया इसीलिए जनभाषा को उन्होंने अपनाया, पुराणों की कथापद्धति को अपनाया, और जटिल दार्शनिक तर्क दूर रखते हुए शील तथा चारित्र्य ही को आगे बढ़ाया। उन्होंने जीवों की समानता का भाव तो यहाँ तक बढ़ाया कि श्वेत श्याम भारतीय अभारतीय कौन कहे, मनुष्य पशुपक्षी, कीट पतंग सभी में हृदय का कारुण्य फैल गया। दोनों ने शब्द प्रमाण और रूढ़ि प्रमाण हटाकर बुद्धिप्रमाण को मान्यता दी।

यह बात नहीं है कि दोनों ने वैदिक संस्कृति से कोई सम्बन्ध ही न रखा हो। यह तो असंभव बात थी। वैदिकों के सांख्य और योग का बहुत कुछ सहारा इन्होंने भी लिया परन्तु चूंकि ये (१) वेद प्रामाण्य के कायल न थे (२) किसी ईश्वर को जगत कर्ता के रूप में मानने की आवश्यकता न मानते थे (३) यज्ञ याग द्वारा आत्म समृद्धि के बदले तप त्याग द्वारा आत्म-शुद्धि को कल्याण का एकमात्र उपाय समझते थे और (४) मानवों में चातुर्वर्ण्य या उच्चनीच की भावना के विरोधी थे, इसीलिए इनकी संस्कृति भिन्न मानी गयी। आर्य संस्कृति के दो भेद हो गये। एक वैदिक संस्कृति का और एक श्रमण संस्कृति का। अनार्यों के स्वस्थ तत्व इस श्रमण संस्कृति ने भी खूब अपनाये। पुराणों ने जिस जन कल्याण की ओर ध्यान देते हुए

अपने क़दम बढ़ाये थे उस दिशा में जैनों और बौद्धों ने आश्चर्यजनक उन्नति कर दिखाई।

जैन लोग यदि एक ओर परमात्म तत्व का स्पष्ट बहिष्कार कर रहे थे तो दूसरी ओर कायिकतप आदि पर उनका जोर भी बहुत था। अपनी कट्टरता के कारण ही वे बौद्धों की तरह विशेष बढ़ न पाये परन्तु अपनी पवित्रता के कारण ही वे बौद्धों की तरह विलीन भी न हो सके। बौद्ध लोग परमात्मतत्व के विषय में मौनावलम्बी हुए और तप आदि के विषय में मध्य मार्ग पसन्द किया। जन साधारण को इसीलिए वे बहुत पसन्द आये और उनका धर्मचक्र इस जोर से घूमा कि बड़े-बड़े साम्राज्य उसके नीचे आ गये। भारत के बाहर बड़े-बड़े महाद्वीपों में यह चक्र घूमा और यह कहना भी अनुचित न होगा कि विश्व में संस्कृति कहाने योग्य जो कुछ है वह बुद्ध भगवान के इसी चक्र का बहुत दूर तक ऋणी है। कम्यूनिस्ट संस्कृति का लोक कल्याणवाद, इस्लामी संस्कृति का मानव-बंधुत्ववाद, ईसाई संस्कृति का चारित्र्यवाद, बुद्ध के इसी चक्र की छाया में पनपा है, इसी के द्वारा उर्वर की हुई भूमि के दानों से पला और बढ़ा है। भारतीय संस्कृति को अन्तर-राष्ट्रीय तथा अति राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचा देने का बहुत कुछ कार्य इन श्रमणों ने किया है।

परन्तु बौद्धों ने 'दुःखं' पर मनुष्यों का ध्यान इतना केन्द्रित किया कि सुख की खोज प्रत्येक के लिए प्रमुख हो गई। उधर, परमात्मतत्व के बदले शून्य तत्व का बोलबाला हुआ इसलिए महासुखवाद भी जायज नाजायज सभी तरह के सुखों की ओर मुड़ पड़ा और साधना में दक्षिणाचार वामाचार सभी तरह के आचार चल पड़े। हीनयान और महायान के बीच से वज्रयान ने सिर उठाया। वैदिक परम्परा के प्रेमियों को चिन्ता हो उठी। उन्होंने आचारों का नियंत्रण करने के लिए भाँति-भाँति की स्मृतियों पर जोर दिया, साधना के नियंत्रण के लिए सात्विक आगमों की परम्परा अपनाई। पुराणों में भी सात्विक राजस तामस भेद किये गये।

इसी समय एक और भी बात हो गई। बौद्ध संस्कृति जब विश्वभ्रमण के लिए निकली तब स्वभावतः ही भारत के दरवाजे और अधिक जोर से खुल गये अतएव इसमें विदेशियों का प्रवेश भी निर्बाध होने लगा। बौद्धों की दृष्टि में स्वदेशी और विदेशी का कोई भेद न था। परन्तु कर्मकाण्डी वैदिक ब्राह्मण इस भेद का तिरस्कार कैसे कर देते। अतः उन्होंने यवनों, शकों, हूणों आदि के विरुद्ध अपने को संगठित करना चाहा। भारत की अराष्ट्रीय संस्कृति अथवा यों कहिये कि अतिराष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय संस्कृति राष्ट्रीय सांचे में ढाली जाने लगी। और बौद्धों के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई।

राष्ट्रीय भावना जब तीव्र करनी पड़ती है तब उसकी साधक इकाइयों पर निश्चय ही बहुत जोर देना पड़ता है। राष्ट्रीयता की चर्चा करते समय में इस विषय पर कल कुछ कह चुका हूं। राष्ट्रीयता के लिए अपने विशिष्ट समाज के अतीत के प्रति अभिमान जाग्रत कराना परम आवश्यक होता है। अतएव ऋषियों के प्रति, आर्य ग्रंथों के प्रति, आर्यावर्त के प्रति, आर्य जाति और आर्य आचारों के प्रति, भारतीय इष्टदेवों के प्रति, भारत की राष्ट्र भाषा वेष और संस्कृति के प्रति, खूब अभिमान उत्पन्न कराया गया। पाली प्राकृत देहातियों की सहज बोली थी जो प्रदेश-प्रदेश में भिन्न भिन्न हो सकती थी। समूचे राष्ट्र के संगठन के लिए फिर से रामायण और महाभारत की भाषा चुनी गई। यज्ञ और तप के विषय क्रमशः वैदिकों और श्रमणों के खास से हो चुके थे इसलिए पुराण प्रतिपादित शिव शक्ति और विष्णु की पूजाओं के क्रम पर जोर दिया गया। प्राचीन ग्रंथों और प्राचीन सूक्तों तथा उनके उपदेष्टा ग्रंथकारों और ऋषियों का बड़े महिमास्य शब्दों में स्मरण किया गया और जन साधारण की श्रद्धा बढ़ाने के लिए उस समय के विद्वानों ने अपनी स्थिति केवल टीकाकारों, भाष्यकारों, प्रवर्तकों आदि की सी रखी। भारत की वस्तुओं, नदियों, पहाड़ों, तीर्थों, वृक्षों, पक्षियों, पशुओं आदि को बड़ी मान्यता दी गई। गो

पूजा, तुलसी पूजा, अश्वत्थ पूजा, सप्तनदी, सप्तपुरी, चारों धाम, आदि आदि न जाने कितनी वस्तुओं का महत्व बढ़ा। जाति व्यवस्था में कड़ाई बरती गई और 'जन्मना जातिप्रथा' सुदृढ़ हुई। आचार-शुद्धता आदि के विचार से समुद्रयात्रा सरीखी बातों में आप ही प्रतिबंध लग गया। और भारत की जनशक्ति भारत की रक्षा ही में लग गई। शुद्धि और संगठन का मार्ग पुराण आदि ग्रंथ दिखा ही रहे थे, अतः जनता ने शीघ्र ही इस नये आन्दोलन में संगठित होकर विदेशियों को या तो निकाल भगाया या अपने में हजम कर लिया।

इस नई वैदिक भारतीय संस्कृति ने बौद्धों और जैनों को न अपनाया हो यह बात नहीं है। श्रमण संस्कृति के अनेक सिद्धान्त इसने ले लिये। जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और बौद्धों के गौतम बुद्ध को इसने वैष्णव अवतार कोटि में सम्मिलित कर लिया।

भारतीय संस्कृति का यह काल आचार्यों के अभ्युदय का काल था। प्रथम आचार्य जगद्गुरू शंकराचार्य हुए जिन्होंने सौगत-परम्परा के उपादेय अंश को तो वैदिक परम्परा में मिला लिया और खोखले हो गये हुए विकृत बौद्ध रूप को दूर उड़ा दिया। बौद्धों का 'शून्य' शंकर के 'ब्रह्म' में परिणत हो गया और उनका भिक्षु संघ सन्यासी संघ का चोला लेकर आगे बढ़ा। सत्सिद्धान्तों की परम्परा रूढ़िवाद को जन्म दे ही देती है। सतत विकास शील समाज में इसीलिए रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति के क़दम उठाने पड़ते हैं। यही तो युगधर्म है। जगद्गुरु शंकर ने युग को खूब पहिचाना और युगधर्म के अनुसार भारतीय संस्कृति का बड़ा सुन्दर परिष्कार किया।

उनके बाद चार वैष्णव आचार्यों का नम्बर आता है। ये चारों ही दक्षिण के थे। शंकराचार्य के समन्वय के बाद इन्हें समाज के संशोधन की प्रक्रिया पूरी करनी थी। इसी समय उत्तरीय भारत की ओर इस्लाम के धावे आरम्भ हुए। इस नये धर्म में दीक्षित लोग एक नयी और तगड़ी संस्कृति लेकर आये थे। वे हूणों और शकों की भाँति केवल व्य से

सन्तुष्ट होनेवाले जीव न थे। उनका प्रहार तो यहाँ की संस्कृति पर भी हो रहा था। देश में कोई विक्रमादित्य दिखाई नहीं देता था। इसलिए आवश्यकता थी कि अपने समाज को इस तरह संगठित किया जाय कि जिससे इसको कोई विदेशी संस्कृति हजम न कर पावे। जातिवाद की कट्टरता, मठ-मंदिरों की महिमा, छुवाछूत का विस्तार, आदि आदि की बातें इसीलिए प्रमुखता को प्राप्त हुई। राष्ट्रीयता की सुदृढ़ता के लिए गौरवपूर्ण अतीत के चिन्तन का जो क्रम चलाया गया था उसको इन आचार्यों ने खूब प्रोत्साहन दिया। संस्कृत भाषा का साधन और छुआछूत से भरी हुई जाति भेद की कट्टरता के कारण इन आचार्यों के प्रभावक्षेत्र की सीमा उन जातियों को न बाँध पाई जो अपनी वन्य परम्परा में अथवा श्रमण परम्परा में पले थे। फिर भी इन्होंने ज्ञान, कला, आचार, आदि आदि के विविध क्षेत्रों में अपना खूब योग दान दिया।

मूसाई, ईसाई अथवा मुहम्मदी संस्कृतियों के संघर्ष का इनके सामने कोई खास प्रश्न नहीं था क्योंकि दक्षिण में यह संघर्ष नहीं के बराबर था। कोरे सुखवाद की नास्तिकता के विरुद्ध इन्हें संगठित लोहा अवश्य लेना था। इसीलिए उत्तर भारत के आदर्श आराध्यों को लेकर इन्होंने भक्ति का ऐसा प्रवाह बहाया जिसमें उत्तर दक्षिण दोनों ही मस्त हो उठे। उन्होंने ब्राह्मणों (अक्षरवादियों या शास्त्रवादियों) और वैष्णवों (भावना वादियों) अथवा स्मार्तों और भागवतों का सुन्दर समन्वय भी कराया। यह वैष्णवों और भागवतों की धारा श्रमण परम्परा को लेती हुई चल रही थी। इसे वैदिकता का जामा पहिना देने का श्रेय इन वैष्णव आचार्यों को है। इन्होंने पुराणों के आधारपर यह कार्य किया अथवा पुराणों में अपने अनुकूल आधार सम्मिलित कर लिये यह कहना जरा कठिन बात है।

जगद्गुरु को मिलाकर दक्षिण के पाँच आचार्यों की तरह उत्तर के उल्लेखनीय तीन आचार्य हुए गुरु गोरखनाथ, स्वामी रामानन्द और महाप्रभु चैतन्यदेव। तीनों की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं परन्तु तीनों ही

अपने अपने ढंग पर हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के परिष्कारक हुए। पश्चिम के गुरु गोरखनाथ ने वैदिक और बौद्ध दोनों प्रभाव ग्रहण करके योगी सम्प्रदाय की नींव डाली। पूर्व के चैतन्य महाप्रभु ने अपनी नवीन माधुरी से ओत-प्रोत करके कृष्ण भक्ति-परम्परा को आगे बढ़ाया। मध्यदेश के रामानन्द स्वामी ने रामानुज सम्प्रदाय की परिपाटी में परिष्कार करके जनजाति और जनभाषा के तत्व सम्मिलित किये तथा राम भक्ति की ऐसी पावन धारा बहाई जिससे भारतीय संस्कृति एक नये रूप में निखर उठी। सन्त कबीर इन्हीं के शिष्य थे। गोस्वामी तुलसीदास इन्हीं की शिष्य परम्परा में थे।

आचार्यकाल ही में मोहम्मदी धर्म के लोगों का शासन भारत में स्थिर हुआ। मुल्लाओं ने भारतीय संस्कृति हज़म करनी चाही। मगर पण्डितों (ब्राह्मणों) ने उसे बचाने के लिए जाति और भाषा के बंधन और भी कड़े कर लिये। जन साधारण के कल्याण कामी सहृदय सज्जन दोनों ओर से निकल पड़े। उधर सूफ़ी लोग जनजाति और जनभाषा के भाव लेकर आगे बढ़े, इधर सन्त लोग। सन्त परम्परा में एक ओर कबीर का निर्गुणवाद चला तो दूसरी ओर सूर का सगुणवाद। कबीर में बुद्धि, बुद्ध, शंकराचार्य, गोरखनाथ तथा सूफ़ियों का उत्तराधिकार अधिक आया; सूर में श्रद्धा, शास्त्र; शास्त्रीय परम्परा तथा वैष्णव आचार्यों का उत्तराधिकार अधिक आया। कबीर का चिन्तन अमूल्य था, सूर की भावुकता अमूल्य थी। दोनों ही दो विचार धाराओं के सन्त थे परन्तु दोनों ही भारतीय संस्कृति का एक एक रूप स्पष्ट कर रहे थे। इन दोनों विचार धाराओं का समन्वय किया गोस्वामी तुलसीदास जी ने।

ऊपर के सिंहावलोकन से स्पष्ट होगा कि भारतीय संस्कृति की अपनी ख़ास विशेषताएँ रही हैं। उसकी पहिली विशेषता यह है कि वह सनातन रही है सततप्रवाही रही है, सात्विक (सर्वसह) रही है, समन्वयात्मक (सर्वग्रह) रही है और सर्वांगीण रही है। यों कहिये कि वह पंच सकारी रही है। उसकी सतत प्रवाह शीलता के कारण ही वह युगधर्मानुसारिणी

होकर अवस्था के अनुसार व्यवस्थाएँ कर लेने में समर्थ रही। उसकी समन्वयात्मकता के कारण ही वह भेद में अभेद दृष्टि स्थापित कर सकी, उसकी सर्वांगीणता के कारण ही उसने तन, मन, धन और जन इन चारों क्षेत्रों से क्रमशः सम्बद्ध आमय, अज्ञान, अभाव और आसक्ति (स्वार्थपरता) की भावनाओं को हटाया और सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह (उदारता) तथा (अनासक्त) लोकसेवा को मानव जीवन में प्रस्थापित किया। उसकी दूसरी विशेषता यह है कि वह व्यापक अर्थ में लोककल्याण विधायिनी रही है। विश्वका भरणपोषण और अभ्युदय हो यह उसका परम अभीष्ट रहा है। विश्व की सीमा केवल भारतीय जनता तक नहीं, केवल विश्वमानव तक नहीं, केवल सजीव संसार तक नहीं, और केवल सचराचर जगत तक भी नहीं है। उसका विश्व ओऽम् का स्वरूप है, विष्णु का स्वरूप है। वह अव्यक्त आदर्श है जो क्रमशः व्यक्त होता जा रहा है। 'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रि पादस्यामृतं दिवि।' वह अशेष अथवा विशेष है जिसके कालावच्छिन्न शेष अंश पर ही हमारे चाक्षुष संसार की स्थिति गति है।

भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता यह है कि वह आध्यात्मिकता प्रधान रही है। उसने काम+अर्थ+धर्म का क्रम कभी पसन्द नहीं किया किन्तु धर्मार्थ काम का ही क्रम लेकर चली है। उसने इस जगत को ही सब कुछ नहीं मान लिया इसलिए उसका धर्मचक्र अथवा कर्मचक्र बड़ी शक्ति से आगे बढ़ा है। वैराग्यशीलता उसका स्वाभाविक गुण हो गया है, ईश्वरनिष्ठा उसका स्वाभाविक लक्षण सा हो गया है। उसकी चौथी विशेषता है कि वह बुद्धिपरक रही है। इसीलिए समन्वय संभव हो सका, इसीलिए सात्त्विकता संभव हो सकी। इसीलिए उसमें सर्वग्रहता और सर्वसहता की उदारता आ सकी। जब जब रूढ़िवाद और श्रद्धा विश्वासवाद अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करता सा दिखाई पड़ा है या यों कहिये कि धर्म की हानि होती हुई जान पड़ी है—(देखिये 'युक्तिहीन विचारे तु धर्म हानिः प्रजायते'),

तब तब बुद्धिवादी भगवद्विभूति जन-जीवन का संस्कार करती चली है। इन चारों का सन्तुलन बिगड़ जाने से संस्कृति विकृति बन जा सकती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के समय यह सन्तुलन बहुत बिगड़ा हुआ था। मुसलमानों का शासन भारत में जम चुका था। भारतीय स्वतन्त्रता तो गई ही, उसकी संस्कृति भी बड़े ख़तरे में पड़ गई थी। शास्त्र को संभालने वाले पण्डित पंथ को—या यों कहिये कि वेदमत की—पद पद पर अवमानना हो रही थी और वह अधिक से अधिक कट्टर अथच अधिक से अधिक संकीर्ण भी बनता चला जा रहा था। 'कलिमल ग्रसेधरम सब लुप्त भये सदग्रंथ'। शास्त्र की अवहेलना करने वाले बुद्धिवादी लोकसुधारक पंथ की—अथवा यों कहिये कि लोकमत की—यह हालत थी कि 'दंभिन निज मत कलपि करि प्रगट किये बहु पंथ।' स्थिति यह थी कि 'मारग सोइ जा कह जोइ भावा, पण्डित सोइ जो गाल बजावा॥' परम्परा की एकदम अवहेलना करके कोरा बुद्धिवाद भयावह ही माना जाता है। परम्परागत शास्त्र हज़ारों वर्षों के विचारकों की विरासत लिये हुए विद्यमान हैं। अपना अनुभव निश्चय ही धान है परन्तु विशेषज्ञों का अनुभव भी तो कोई मूल्य रखता है। 'मैं कहता आंखों की देखी, कहता तू कागद की लेखी, मेरा तेरा मनुआ कैसे एक होय रे।' कहना कहां तक उचित है वह सहृदय सज्जन स्वतः समझ सकते हैं। लोककल्याण की यह हालत थी कि पराधीनता के थपेड़े खाकर अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर और अपने कुटुम्ब तक ही अधिकांश में "लोककल्याण" सीमित हो गया था। मातु पिता बालकन बोलावहिं, उदर भरइ सोइ धरमु सिखावहिं।' मोक्ति भी चाहिये थी तो अपनी अपनी मुक्ति। समाज रहे चाहे चूल्हे जाय। मैं बचा तो जग बचा, मैं डूबा तो जग डूबा। यह था लोककल्याण का हाल। आध्यात्मिकता का यह हाल था कि जो आगे बढ़े वे इदम् अथवा भूलोक को 'बिराना देश' और अहम् अथवा मानवीय व्यक्ति को 'पानी केरा बुदबुदा' समझते हुए किसी कल्पित सत्यलोक की

चिन्ता में चूर हो गये और आत्म-निर्भरता तक खो बैठे। जो पीछे हटे वे ऐसे भी हटे कि या तो सुरा सुंदरी और सुवर्ण के सेवक बन गये या अपनी जातीय परस्परा को ही ग़नीमत मान कर सभी प्रकार के सम्प्रदायों से नाता तोड़ बैठे। अजीब परिस्थिति थी वह!

उस परिस्थिति के संशोधन के लिये हिन्दी वाङ्मय में जो दो उल्लेखनीय धाराएं मिलती हैं उन्हीं के प्रतिनिधि हुए क्रमशः कबीर और सूर जिनकी चर्चा हम अभी कर आये हैं। कबीर ने निर्गुण को अपनाया और सूर ने सगुण को। कबीर ने रामरहीम की एकता का प्रतिपादन किया, सूर ने कृष्ण के रासोल्लास से भारतीयों के हृदय रसार्द्र करने का प्रयत्न किया। कबीर के आराध्य ज्ञानमय थे, सूर के आराध्य प्रेममय थे। परन्तु राष्ट्र को तो उस समय ऐसा आराध्य चाहिये था जो धर्ममय हो—समाज व्यवस्था का संस्थापक हो। वह तत्व दिया तुलसी ने। कबीर ने त्याग के द्वारा तत्व पाना चाहा सूर ने अनुराग के द्वारा। तुलसी ने अनुराग और त्याग का सामंजस्य करने ही में जनता की भलाई समझी। सूर एक सम्प्रदाय में बंध कर चले थे, कबीर अपनी इच्छा के विरुद्ध भी एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक मान लिये गये। तुलसी न किसी सम्प्रदाय से बंधे, न किसी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए। आस्तिक्य की प्रेमभावना सूर ने कुछ इस ढंग पर प्रकट की कि विलासिता के चार चांद लग गये और कृष्ण जी के इर्दगिर्द रीतिकाल का रागरंग खिल उठा। आस्तिक्य की ज्ञान भावना कबीरने कुछ इस ढंग पर प्रकट की कि हिन्दू मुस्लिम ऐक्य सम्पादित करने के बजाय उन्होंने एक तीसरा पंथ खड़ा कर दिया और प्रकारान्तर से भारतीय संस्कृति को मिटाने में विदेशी शासकों के सहायक हुए। तुलसी ने इसीलिये कोरे निर्गुणवादियों को काफ़ी करारी फटकार दी है और राम रहीम की एकता मानते हुए भी उसका ढिंढोरा कहीं नहीं पीटा। जब भारतीय भाषा का सहारा लेना है तब "राम" शब्द ही अपनाया जायगा न कि "रहीम" शब्द। अतएव आस्तिक्य की धर्मभावना तुलसी ने कुछ

इस ढंग पर प्रकट की कि न तो नैतिकता में कोई अन्तर आने पाया, न भारतीयता ही में किसी प्रकार का व्याघात हुआ और न किसी क्षेत्र से उनके प्रति कोई विरोध ही उ खड़ा हो सका।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने "श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ संयुत विरति विवेक" कह कर भारतीय संस्कृति की चारों विशेषताओं का संकेत कर दिया है। उसकी पहिली विशेषता है उसकी परम्परा जो स्पष्ट ही पंच सकारी है। इसी के द्योतन के लिये 'श्रुतिसम्मत' शब्द आया है। श्रुति ही शास्त्र है। गोस्वामी जी की श्रुति में आगम निगम पुराण तीनों का समावेश है। 'अनन्ताः वै वेदाः।' ऐसी किस परिस्थिति का कौन सा सांस्कृतिक तत्व है जिसका स्रोत हमें वेदों (शास्त्रों) में न मिल सके। तुलसीदास जी के ये वेद—उनकी ये श्रुतियां—श्रमण संस्कृतियों के स्वस्थ तत्व भी समेटे हुए हैं। वन्य और पार्वतीय भारतीयों के (जिन्हें ग़लती से आदिम जातीय कहा जा रहा है) भी स्वस्थ सांस्कृतिक तत्व समेटे हुए हैं।

गोस्वामी जी का हरिभक्ति पथ लोककल्याण विधान का स्पष्ट द्योतन कर रहा है। हरि विश्वंभर तत्व का नाम है। लोककल्याणकारी तत्त्व का नाम है। उसी के प्रतीक है महामानव राम या कृष्ण। इस तत्व के प्रति तन्मयता का नाम ही है हरिभक्ति पथ। गोस्वामी जी ने इस पथ का रूप भी इसी प्रकार का रखा। 'मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवन्त।'

गोस्वामी जी का 'संयुत विरति विवेक' भारतीय संस्कृति की तीसरी और चौथी विशेषता की ओर संकेत कर रहा है। तीसरी विशेषता है आध्यात्मिकता की जो स्वभावतः ही अनासक्ति का, एकांगी आधिभौतिकता के प्रति विरक्ति का, दूसरा रूप है। यही है गोस्वामी जी की विरति। चौथी विशेषता है बुद्धिपरता की। यही गोस्वामी जी का 'विवेक' है।

भारतीय संस्कृति का इतना व्यापक रूप विद्यमान रहते हुए भी

गोस्वामी जी को यह देखकर नितान्त दुःख था कि राष्ट्र की अस्तव्यस्त दशा में भी पथप्रदर्शक लोगों का इस ओर ध्यान ही नहीं जा रहा था और वे मनमाने पंथ गढ़ने में भिड़े हुए थे !

श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ, संयुत विरति विवेक।
तेहि नहिं चलहिं विमोह बस, कल्पहिं ंथ अनेक॥

अपने इसी दुःख को, अपनी इसी अन्तर्व्यथा को, दूर करने के लिये उन्होंने रघुनाथगाथा का अतिमंजुल भाषा निबंध तैयार किया। "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।" जो उपक्रम है वही उपसंहार है। रामायण के आरंभ में यदि उन्होंने स्वान्तः सुखाय को कारण बनाया तो अन्त में स्वान्तस्तमः शान्ति को फल रूप भी मान लिया। 'स्वान्तस्तमः शान्तये, भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।' यह स्वान्तस्तमः की शान्ति उसी अन्तर्व्यथा की, उसी दुःख की, शान्ति थी, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

अतएव गोस्वामी जी की दृष्टि में उनका रामचरित मानस भारतीय संस्कृति के उस समूचे रूप का प्रतीक अथवा दर्पण बना जो, उनके विचार से, अखिल भारत का, और भारत के द्वारा अखिल विश्व का भी, परम अभीष्ट होना चाहिए।

आगे के व्याख्यानों में यही विषय कुछ और अधिक स्पष्ट किया जायगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी और उनकी राम कथा

"गोस्वामी जी की रचनाएं जितने अधिक प्रकाश में हैं उनकी जीवनी उतने ही अधिक अंधकार में है। रस के प्रेमियों को आम खाने से मतलब, वृक्ष की जड़ें गिनने और उन जड़ों की ऊहापोह करने से क्या प्रयोजन। सहृदय लोगों ने इसीलिये गोस्वामी जी की कृतियों को तो प्रेम से अपनाया किन्तु सन् सम्बत् वाले उनके इतिहास के प्रति उदासीन रहे। फिर भी बात बहुत पुरानी नहीं है और गोस्वामी जी अपने समय में भी पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे तथा उन्होंने अपनी रचनाओं में भी अपने व्यक्तित्व के विषय की पर्याप्त सामग्री रख छोड़ी है, इसलिये अन्तःसाक्ष्य और बहिः-साक्ष्य के आधार पर उनकी जीवनी से सम्बन्धित कई बातें प्रकट हो ही गई हैं।

गोस्वामी जी अकबर और जहांगीर के राजत्वकाल में वर्तमान थे। उन्होंने जीवन के उतार-चढ़ाव खूब देखे थे। भिक्षुकों से लेकर बड़े बड़े भाग्यवानों के बीच अपनी ज़िन्दगी गुज़ारी थी। जगह जगह घूम कर अध्ययन भी खूब किया था और अनुभव भी खूब पाया था। अवस्था भी उन्होंने खूब पाई थी और अपनी उत्तम रचनाएं उन्होंने अपनी प्रौढ़ावस्था में ही की थी। सांसारिकता का उन्होंने पूरा रस लिया था और ठोकर खाकर मुड़े भी इस खूबी से थे कि विरक्तिमयी पारमार्थिकता का भी पूरा रस पा गये। उनका व्यक्तित्व अपने लिये नहीं अपने आराध्य के लिये हो गया था और परम्परा से उन्हें मिला था ऐसा आराध्य जो वस्तुतः ही लोक-उन्नायक नायक था। अतएव गोस्वामी जी का जीवन जनता-जनार्दन के लिये अर्पित हो गया।

कवि में भावयित्री और कारयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाएं होनी

चाहिये। गोस्वामी जी में ये प्रतिभाएं पूरी मात्रा में थी। अपनी प्रतिभा के बल पर कवि प्रत्यक्ष-दर्शी ही नहीं परोक्ष-दर्शी भी हो जाता है और वर्तमान ही नहीं किन्तु अतीत और भविष्य के भी दर्शन कर लेता है। वह सहज साधक होता है। उसकी साधना का आराध्य-केन्द्र जितना उन्नत होगा उसकी कृति भी उतनी ही कल्याणकारिणी होकर निकलेगी। उसकी प्रतिभा और साधना के साथ अध्ययन और अभ्यास के भी योग मिल गये तो समझिये कि सोने में सुगन्ध आ गई, कृति में चार चाँद लग गये।

संस्कृति का परिचय लिपिबद्ध कृतियों के द्वारा ही विशष रूप से हुआ करता है। ये कृतियां उस भाषा से संबंधित मानवसमाज की अतीत और वर्तमान संस्कृति का ही परिचय नहीं करातीं, किन्तु उसके भविष्य का भी सुन्दर सकेत दिया करती हैं। कृतियों में शास्त्रीय कृतियाँ तो ऐसी होती हैं जो जीवन का एकांगी विवेचन किया करती हैं किन्तु साहित्यिक कृतियां ऐसी होती हैं जिन में जीवन के सर्वांग की झाँकी दिखाई जा सकती है। इसीलिये साहित्य को मानव जीवन का दर्पण कहा गया है, मानवी संस्कृति का तापमापक तथा दिशासूचक यंत्र कहा गया है। साहित्य में भी कथा-साहित्य ऐसा है जिसमें मानव जीवन विशेष रूप से प्रतिबिम्बित किया जा सकता है—अतीत जीवन भी, वर्तमान जीवन भी और भविष्य जीवन भी। लोक-कथाएं इसीलिये इतनी रोचक और जन-व्यापक रहा करती हैं क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों का मानव उनमें समान आत्मीयता पाता है, और उनमें केवल अपना अथवा अपने पूर्वजों का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब ही नहीं देखता किन्तु कभी कभी भविष्य के सांस्कृतिक उन्नयन के लिये अनेक प्रेरणाएं भी पा जाता है।

भारत की अनेक प्रचलित लोक-कथाओं में से गोस्वामी जी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र जी की कथा को अपना प्रधान विषय बनाया और अनेकानेक ग्रंथरत्नों का निर्माण करके भारतीय संस्कृति को उत्तमोत्तम वस्तुएं प्रदान की। एक दो नहीं अनेकों ग्रंथ उन्होंने इस राम-कथा पर

लिखे परन्तु उस ग्रंथमाला का सुमेरु रहा रामचरित मानस। विश्व साहित्य में वह बेजोड़ ग्रंथ है ऐसा बड़े बड़े विद्वानों का मत है। उसकी खूबियां जितनी कही जाएं उतनी ही थोड़ी हैं। परन्तु यह बात नहीं कि उनके लिखे दूसरे ग्रंथ एकदम फीके हों। भावुक लोग तो उनकी लिखी विनयपत्रिका को रामचरितमानस से भी ऊंची कृति मानते हैं। कविता-वली और गीतावली भी अपने ढंग की अनूठी कृतियां हैं। परन्तु अनेक दृष्टियों से, जन-साधारण में, जो मान रामचरित मानस को मिला वह अन्य कृतियों को नहीं मिल सका है। इस अकेली एक कृति के द्वारा गोस्वामी जी ने इतने उत्तम और इतने अधिक सांस्कृतिक तत्व इतने प्रभावशाली ढंग पर दे दिये हैं जितने, शायद, हिन्दी वाङ्मय के शेष सभी कवि, सामूहिक रूप से भी, न दे सके होंगे।

कई लोग भ्रमवश कह दिया करते हैं कि रामचरितमानस वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद मात्र है। फोर्ट विलियम के मुंशी अदालत खां ने यह कहा तो कहा लेकिन आजकल के सुप्रसिद्ध रामायणी विवेचक दिवान-बहादुर के. एस. रामस्वामी शास्त्री भी अपनी "Studies in Ramayan" नामक भाषणमाला में कह गये हैं कि तुलसीदास जी का अमर काव्य रामचरित मानस वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी रूपान्तर (मात्र) है। (देखिये परिशिष्ट १५ पृष्ठ २१३)। वह रामकथा का प्रवर्तक ग्रंथ अवश्य है परन्तु उसकी रामकथा उसकी ही अनूठी रामकथा है और गोस्वामी जी की सबसे बड़ी सांस्कृतिक देन इस रामकथा के इसी अनूठेपन में है।

गोस्वामी जी के अनूठेपन का परिचय पाने के लिये हमें रामकथा का भी थोड़ा सिंहावलोकन कर लेना चाहिए। हम पहिले ही कह चुके हैं कि भारत में दो महापुरुषों की कथाएं खूब चलीं। भारत ही में नहीं, भारत के बाहर भी। वे महापुरुष हैं राम और कृष्ण। कृष्ण की कथा लिखी वेदव्यास ने परन्तु उसे आगे बढ़ाया व्यासों की परम्परा ने। उस कथा की व्यापकता के लिये अनुकूल क्षेत्र मिलता गया। जीवनसंघर्ष की

चिन्ताओं से मुक्त स्वतंत्र देश में प्रेममय, आनन्दमय, लीलामय आराध्य ही विशेष आकर्षक हो सकते थे। महाभारत के कृष्ण का प्रग्रहधारी रूप इसीलिये पीछे दब गया और भागवत के कृष्ण का मुरलीमनोहर रूप खूब उभरा। आचार्यों तक ने इसी की महिमा गाई। आचार्य स्वामी-रामानन्द ही संभवतः प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की पराधीनता के इस युग में लीलावतारी कृष्ण की अपेक्षा मर्यादा पुरुषोत्तम राम की चर्चा को अधिक श्रेयस्कर माना और उन्हीं की परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास जी ही उत्तर भारत के संभवतः वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने जनभाषा में इस कथा को व्यापक रूप देने की आवश्यकता समझी। जनकल्याण के लिये यह परम आवश्यक था।

इस प्रकार यद्यपि उत्तर भारत में राम कथा के प्रति प्रचंड आकर्षण उत्पन्न कराया तुलसीदास जी ने ही, परन्तु यह बात नहीं है कि यह कथा पहिले लोकप्रिय रही ही न हो। रामनाम वैदिक कालमें भी प्रिय नाम था। प्रिय पुत्र के लिये यह नाम व्यवहृत होता था। राम राजा का भी ऋग्वेद में एक जगह उल्लेख हैं। कुछ उपनिषद (जिन्हें गोस्वामी जी वैदिक साहित्य में ही सम्मिलित मान लेते हैं) रामकथा और रामभक्ति से भरी हुई है। वेदोत्तर कालीन साहित्य में इस कथा की खूब भरमार है। स्वतः गौतमबुद्ध ने भी एक जगह कहा है कि उन्हें रामकथा पौराणिक पण्डितों से मिली। अतएव निश्चय ही यह बहुत प्राचीन कथा है। वैदिक और अवैदिक दोनों प्रकार के साहित्यों में इसने प्रवेश किया। साक्षर आर्य और निरक्षर अनार्य दोनों को इसने प्रभावित किया। भारत और अभारत सभी कहीं यह फैली। और, अपने स विस्तार प्रस्तार के कारण निश्चय ही इसके अनेक भेद भी हो गये।

रामकथा वह कथा है जिसका मानव की मूल प्रवृत्तियों से घनिष्ठ संबंध है। व्यक्ति में अहम् का भाव जागा कि अहम् अनहम् का द्वन्द्व उपस्थित हुआ। अनहम् में जो वस्तु अहं के अनुकूल होगी, उसकी ओर

अहम् का स्वाभाविक राग होगा और जो प्रतिकूल होगी उसकी ओर स्वाभाविक द्वेष। इसी राग के भेद हैं काम लोभ मोह आदि और इसी द्वेष के भेद हैं क्रोध मद मत्सर आदि। इनमें काम और क्रोध, कई कारणों से, बड़ी प्रबल प्रवृत्तियाँ हो जाया करती हैं। राग और द्वेष का प्रबलतम रूप इन्हें समझिये। काम का निकृष्ट रूप है परस्त्री अपहरण और उसका उत्कृष्ट रूप है सहृदयतापूर्ण निःस्वार्थ विश्वमैत्री। क्रोध का निकृष्ट रूप है अविवेकपूर्ण हिंसा और उसका उत्कृष्ट रूप है किसी भी प्राणी के साथ किये गये अन्याय के प्रति सक्रिय रोष। इसमें अपने पराये का कोई भेद नहीं। हिंसात्मक वृत्ति की भी कोई गुंजाइश नहीं। काम के निकृष्ट रूप में पर-द्रव्य (जैसे कुबेर की लंका) और पर-दारा (जैसे सीताहरण) की कुत्सित कामनाएं भरी रहती हैं, उसके उत्कृष्ट रूप में कांचन (जैसे राज्य-वैभव) और कामिनी (जैसे सूर्पणखा सी सम्पन्न माया नारी) सभी के रूप फीके होकर 'साधुपरित्राण' और 'धर्मसंस्थापन' की ओर का आकर्षण रह जाता है। क्रोध के निकृष्ट रूप में अकारण विग्रह विरोधासहिष्णु हिंसात्मकता आदि के दर्शन होते हैं (जैसे राम से विरोध करके, विभीषण पर पदाघात करके, रावण ने दिखाये)। क्रोध के उत्कृष्ट रूप में वह व्यक्ति अथवा जाति के प्रति न होकर उसके या उनके द्वारा किये अन्याय या अत्याचारों के प्रति होता है। और वह रोष केवल अपने हित में नहीं किन्तु अपने समानधर्मा सभी पीड़ितों के हित में उमड़ पड़ता है। (जैसे कि, राम का रोष अपने ही लिये नहीं किन्तु सुग्रीव और ऋषि मुनि सभी के लिये उमड़ पड़ा तथा वह अत्याचार विरोधी हुआ किन्तु राक्षस विरोधी नहीं हुआ)। काम क्रोध की निकृष्टता में संस्कृति की निकृष्टता है और काम क्रोध की उत्कृष्टता में संस्कृति की उत्कृष्टता है। रामायण की कथा में रावण निकृष्ट काम क्रोध का उदाहरण है और राम उत्कृष्ट काम क्रोध के। निकृष्ट काम क्रोध का पराभव हो और उत्कृष्ट काम क्रोध की विजय हो, यही सतत विकास शील समाज और उसकी सतत विकासशील संस्कृति

का तक़ाज़ा है। रामकथा इसीलिये इतनी रोचक होकर प्रत्येक हृदय में घर कर गई।

निकृष्ट स्वार्थ की भावना के साथ हिंसा का घनिष्ठ संबंध है। इसी के कारण अपहरण होता है और इसी अपहरण के कारण किया जाता है पर-पीड़न। उत्कृष्ट स्वार्थ की भावना के साथ अहिंसा का घनिष्ठ संबंध है क्योंकि उत्कृष्ट स्व में, व्यक्ति का स्व विश्व का स्व बन जाता है। इस उत्कृष्ट स्वार्थ में अखिल लोक-कल्याण के प्रति आकर्षण और लोक-उत्पीड़न के प्रति क्रियात्मक विकर्षण, परन्तु ऐसा विकर्षण जिसमें व्यक्ति के प्रति विद्वेष की गंध तक न हो, स्वभावसिद्ध हो जाता है। संस्कृति का विकास हिंसा और अहिंसा के संघर्ष का इतिहास है। यही है मानवजगत का सुरासुर संग्राम। यही है मानवहृदय का देवदानव युद्ध। इसी का रूप निखरा है रामकथा में। इस कथा में जिस परिस्थिति से राम आगे बढ़े, जितना बड़ा त्याग उन्होंने किया, जिस अकारण उत्पीड़न को उन्होंने सहा, उससे किस सहृदय की सहानुभूति उनकी ओर न खिंच जायगी और कौन उनकी विजय का अभिलाषी न हो जायगा? उनकी विजय में संस्कृति अपनी विजय देख रही है। मानवता अपनी विजय देख रही है।

कल्पना की उड़ान के लिये भी यह कथा प्रचुर सामग्री दे देती है। संस्कृति और सभ्यता, अथवा यों कहिये कि कल्चर और सिविलिज़ेशन, के जिस संघर्ष का हमने पहिले उल्लख किया है, उसका सुन्दर रूप इस राम कथा से स्पष्ट हो जाता है। जीवन-समृद्धि रूपी सीता का प्रकृत अर्थ है राम, रमणीय, कल्चर की भावना वाला कल्याणप्रद माधुर्य। उसका विकृत अर्थ है रावण, भयावना, सिविलिज़ेशन की भावना वाला—आतंकप्रद ऐश्वर्य। कुछ समय तक भले ही विकृत अर्थ उसका अपहरण कर ले जाय परन्तु शान्ति मिलेगी उसे अपने प्रकृत अर्थ के ही साथ रह कर। यही तो है रामरावण की कथा। कल्पना का यह एक उदाहरण मात्र समझिये। एक उदाहरण स्वतः गोस्वामी जी ने विनयपत्रिका में दिया

है जिसमें मोह और आत्मबोध के द्वन्द्व को ही रामरावणयुद्ध का रूपक दे दिया गया है।

राम-कथा के आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जी ही माने जाते हैं परन्तु आज वाल्मीकीय रामायण का जो रूप मिलता है उसके पूर्वीय संस्करण, पश्चिमी संस्करण और दक्षिणी संस्करण को मिलाकर पढ़िये तो कई जगह पाठभेद ही नहीं कथाभेद तक स्पष्ट हो जाते हैं। तब असली रामायण किस संस्करण वाली कथा को कहा जाय? फिर यह भी विचारणीय है कि क्या यही रामायण, राम के समसामयिक मुनि वाल्मीकि की लिखी हुई है या उस आदि कथा का यह वृहत्संस्करण पीछे तैयार किया गया होगा। कथा के पाठभेद तो इस पिछली संभावना की ओर ही अधिक संकेत करते हैं। जब वाल्मीकीय रामायण के कथा भेदों का यह हाल है तब रामकथा के अन्य स्रोतों के कथाभेद पर आश्चर्य ही क्या?

वाल्मीकीय रामायण ठहरी मध्यभारत की उपज। पश्चिम में राम-कथा का पुराना स्रोत मिला महाभारत में और पूर्व में वह मिला जातक ग्रंथों और जैन रचनाओं में। महाभारतीय रामकथा और वाल्मीकीय रामकथा में विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु अवैदिक रामकथा, अथवा यों कहिये कि श्रमण परम्परा की रामकथा, और वाल्मीकीय रामकथा में पर्याप्त अन्तर है। बौद्धों की रामकथा में राम-लक्ष्मण और सीता बनारस नरेश दशरथ की प्रथम रानी के पुत्र हैं जिसकी मृत्यु के बाद राजा की दूसरी रानी से भरत कुमार हुए। इस रानी ने वर के अनुसार पुत्र के लिये राज्य मांगा। राजा को ज्योतिषियों ने बताया कि वे बारह वर्ष और जियेंगे अतएव उन्होंने राम से कहा कि वे बारह वर्ष बन में बिता दें और तदनन्तर राज्य करने के लिये बनारस पहुंच जायं। राजा की मृत्यु नौ वर्षों में ही हो गई। भरत ने राज्य करने से इन्कार किया और राम की तृणपादुकाएं लाकर तीन वर्ष व्यतीत किये। रामभद्र बारह वर्ष बाद लौटे और बहिन सीता से विवाह कर काशी का राज्य करते रहे। यह

है दशरथ-जातक की कथा। जैनों ने इस कथा में पर्याप्त संशोधन किये : उनके उत्तर-पुराण के अनुसार, दशरथ अपनी राजधानी बनारस से हटाकर साकेतपुर ले जाते हैं और सीता राम की सगी माता की नहीं किन्तु मन्दोदरी की पुत्री कह दी जाती है। इसके अनुसार लक्ष्मण ही रावण और बालि के भी वधकर्ता हैं। उनके पउम-चरिउ (पद्मचरित्र) के अनुसार हनुमान रावण के मित्र हैं, वानर और राक्षस विद्याधर वंश के हैं और मनुष्य ही हैं। इसके अनुसार भी लक्ष्मण ही रावण का वध करते हैं।

श्रमण संस्कृति जब विदेशों में फैली तब श्रमण पद्धति की यह राम-कथा भी उत्तर में चीन तिब्बत और खोतान की ओर गई और पूर्व तथा दक्षिण में ब्रह्मदेश, थाईलैण्ड, इण्डोचाइना, इण्डोनीशिया और सीलोन आदि की ओर गई। वहां कथाओं में विचित्र विचित्र सा पाठभेद भी होता गया। कहीं रावण को राम का चचेरा भाई मान लिया गया है (यथा राम-जातक ग्रंथ में) कहीं हनुमान की बहुत सी प्रेमलीलाओं का सविस्तार वर्णन है (यथा राम-कियेन नामक ग्रंथ में) कहीं मन्दुदरी को दशरथ पत्नी तथा मया-मन्दुदरी को सीता की माता कहा गया है (यथा हिकायत सेरी राम में) और कहीं बालि ही लंका दहन करके सीता को राम के पास ले आता है (यथा सिंहली-रामायण में)। परन्तु चूंकि अब पौराणिक कथाओं का भारत में बहुजन ग्राह्य वही रूप रह गया है जो वैदिक परम्परा से हमें मिला। इसलिये रामकथा की परम्परा के विचार में हमें भी उसके बौद्ध और जैन संस्करण की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, भले ही वह ऐतिहासिकों के काम की वस्तु हो।

कठिनता तो यह है कि वैदिक परम्परा से मिली हुई कथा के भी आश्चर्यजनक पाठभेद हो चुके हैं। किसी ने विलासिता को प्राधान्य देकर इसके पाठभेद किये, किसी ने कुतूहल को प्राधान्य देकर इसके पाठभेद किये और किसी ने भक्ति भावना को प्राधान्य देकर इसके पाठभेद कर दिये। महा-रामायण में राम की रास क्रीड़ा का उल्लेख है। कृष्ण की रास क्रीड़ा हुई

तो राम की क्यों न हो ! आनन्द-रामायण में एक नया काण्ड ही विलास काण्ड नाम से जोड़ दिया गया। इसमें बताया गया है कि राम को अगले जन्म में अनेक पत्नियों की प्राप्ति होगी। इसी के राज्यकाण्ड में राधा के पूर्वजन्म की कथा जोड़ी गई है। सखी-सम्प्रदाय के बहुत से लोग आज दिन भी राम की विलासितापरक उपासना ही में मस्त रहते हैं। कथा की कुतूहलपरता को लेकर आनन्द रामायण में यदि शत-स्कंध रावण की चर्चा हुई तो अद्भुत रामायण में सहस्र-स्कंध रावण की चर्चा हो गई और उड़ीसा के विलंका रामायण तक पहुंचते पहुंचते तो उसके लक्ष-स्कंध हो गये ! नाटकों में कौतूहल का अंश और भी खुल कर खेला है। आश्चर्यचूड़ामणि नामक नाटक में सूर्पणखा सीता बनकर राम के पास जाती है और रावण राम बनकर सीता का हरण करता है। आजकल के ऐयारी उपन्यासों के चमत्कार भी इस चक्कर में चक्कर खा जायेंगे।

रामकथा के भक्तिपरक रूप में रावण का रूप एक प्रच्छन्न भक्त का सा हो गया जिसने अपनी मुक्ति के लिये सीता का नहीं, किन्तु माया-सीता का, हरण किया था। स्वतः रामचरित्र भी एक अतिमानवी चरित्र मात्र, एक लीला विलास मात्र, रह गया। इस प्रकार के काव्यों में अध्यात्म रामायण का बहुत मान है। ज्ञान मार्गियों को रामकथा का प्रतीकात्मक रूप पसन्द आया, कर्ममार्गियों को उसका इति वृत्तात्मक रूप पसन्द आया और भक्तिमार्गियों को उसका यह भक्तिपरक रूप ही अधिक पसन्द आया। गोस्वामी जी में तीनों का समन्वय था इसलिये उनकी रामकथा तीनों रूपों को लेकर चली है।

हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के प्रथम सूत्रधार गुरु गोरखनाथ ने ब्रह्म के निर्गुण भाव पर ही जोर दिया और उसके लिये 'अलह' की जोड़ पर भारतीय भाषा का 'अलख' शब्द गढ़ा। आचार्य रामानन्द को विशुद्ध भारतीय भाषा का परम्परा प्राप्त 'राम' शब्द ही पसन्द आया अतः उनसे इस नाम का मंत्र पाकर कबीर आदि सन्तों ने नवनिर्मित अलख की जगह राम राम

कहना शुरू कर दिया। निराकार ब्रह्म की रमणीयता—परम आकर्षकता—को देखते हुए उसके लिये राम शब्द सर्वथा उपयुक्त था। एक अभारतीय अथवा अहिन्दू के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी भारतीय महापुरुष ही को अपना आराध्य माने परन्तु यदि वह भारतीय भाषा के द्वारा तत्वज्ञान चाहता है तो उसे रामनाम स्वीकार करना ही होगा। रामनाम अलग वस्तु है और रामरूप अलग वस्तु है। रूप में भी नराकार रूप अलग है, सुराकार रूप अलग है, विश्वाकार रूप अलग है। नराकार रूप में परशुराम रूप अलग है, बलराम रूप अलग है, राजाराम रूप अलग है। रामनाम न केवल इन सब को समेटे बैठा है वरं निराकार के अर्थ को भी अपने भीतर लिये हुए है। सभी सम्प्रदाय वाले भारतीयों को तथा भारतीयों अभारतीयों को भी एक सूत्र में बांधने की क्षमता है तो इस रामनाम में। आदिज से लेकर अन्त्यज तक और परम्पराभीरु ब्राह्मण से लेकर सुधारवादी सन्त तक सभी इस रामनाम को समानरूप से अंगीकार कर सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने नाम की यह महिमा पहिचानी और इसीलिये विस्तृत विवेचन के साथ लिख गये कि राम से भी बड़ा राम का नाम है। यहां तक वे मानों कबीर की धारा पर चले।

परन्तु कबीर की धारा भारतीय परम्परा की धारा न थी। भारतीय परम्परा में तो ब्रह्म को निर्गुण सगुण दोनों कहा गया है। साधना मार्ग में भी निर्गुण के प्रति तन्मयत्व कठिन व्यापार ही है। "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।" व्यवहार में भी वह गूंगे का गुड़ समझिये। उस रस की चर्चा किस प्रकार हो। इसीलिये सूरदास ने 'सब विध सुगम' विचार कर 'सगुण लीलापद' गाये। यही धारा भारतीय परम्परा की धारा थी। अज्ञ और विज्ञ दोनों के जीवन में रस की अवतारणा करा देने वाली और दोनों का हृदय समान रूप से आकृष्ट कर लेने वाली यही धारा थी। गोस्वामी जी ने रूप (सगुणलीला) की यह महिमा पहिचानी और इस हद तक उन्होंने सूर का पंथ स्वीकार किया।

तब क्या जप के लिये राम नाम और ध्यान के लिये कृष्ण कथा का पल्ला पकड़ा जाय? क्या राम का शील शक्ति सौन्दर्य, भगवान कृष्ण के शील शक्ति सौंदर्य के जोड़ का नहीं बताया जा सकता? क्या राम कथा में वह आकर्षण नहीं लाया जा सकता जो कृष्ण कथा में आता है? सूर की कृष्ण कथा तो केवल प्रेम का प्रवाहपूर है। रामकथा में धर्म और प्रेम दोनों सध सकते हैं। बस, गोस्वामी जी ने अपने मानस में यही सब सोच विचार कर कबीर और सूर का समन्वय कर दिया। गुरु परम्परा से पाई हुई रामकथा को उन्होंने इतना मांजा कि वह एक अपूर्व वस्तु होकर सामने आई।

इतिहास के विद्यार्थी चौंकेंगे कि ऐतिहासिक तथ्य का यह परिमार्जन कैसा? इति ह आस—जैसा था वैसा लिख या कह देना ही इतिहास है। परन्तु जो इतिहास को भी एक शास्त्र मानकर पढ़ना चाहते हैं वे जानते हैं कि जब तक इतिहास में भविष्य का संकेत देने की क्षमता नहीं है तब तक वह इतिहास ही नहीं है। अतएव भविष्य के निर्माण की दृष्टि से ही अतीत के इतिहास का अध्ययन होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि इतिहास की जो वस्तु भविष्य के निर्माण में सहायक न हो उसकी उपेक्षा कर दी जाय, और हो सके तो उसका लोप ही करा दिया जाय, तथा जो वस्तु भविष्य के निर्माण में सहायक हो उसे हर तरह की प्रमुखता दी जाय। अतएव इतिहास का सत्य फोटोग्राफर का सत्य न होकर कलाकार का—आर्टिस्ट का—सत्य हुआ। जब इतिहास का यह हाल है तब काव्यगत कथा का कहना ही क्या है। वहाँ तो नाम गांव सन सम्वत् सभी उपेक्षित हो जाते हैं और केवल मानव व्यापार ही पर सत्य को केन्द्रित कर दिया जाता है। अतएव उस स्थिति में तो आर्टिस्ट की सत्यरक्षा के लिए कथानक में भी मन चाहा फेरफार कर दिया जाता है, बशर्ते कि वह फेरफार कथा की प्रकृति और उसके ईप्सित प्रभाव के अनुकूल हो। गोस्वामी जी ने भी राम कथा में इसीलिए उपयुक्त फेरफार कर देना एकदम वैधानिक माना है।

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने रामकथा लिखी और बड़े अच्छे ढंग पर लिखी। बड़ी ऊँची पुस्तक है वह। क्या कहना है महर्षि की प्रतिभा का। आज दिन भी वह अपने ढंग की बेजोड़ कृति है। संसार में रामकथा का विस्तार उन्हीं की कृपा से हुआ और इस विस्तार के लिए उन्होंने कथा में काव्य के जो चटकीले रंग भरे हैं वे इन हजारों वर्षों के बाद भी फीके नहीं पड़े। दो एक प्रसंगों का मुलाहिजा कीजिये।

कैकेयी के व्यवहार से आहत होकर दशरथ स्त्रियों को कोस चलते हैं परन्तु जैसे ही कोसना प्रारंभ करते हैं वैसे ही संभल भी जाते हैं और कह उठते हैं कि व्यक्ति के दोष से जाति दूषित नहीं कही जा सकती।

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपराः सदा,
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वाः भरतस्यैव मातरम् ॥

सीताहरण के बाद उनके गहने मिलते हैं और राम लक्ष्मण से उन जेवरों की शनाख्त करवाना चाहते हैं। लक्ष्मण केवल पाजेब (नूपुर) ही पहिचान पाते हैं, न वे केयूर पहिचान पाते हैं न कुण्डल; क्योंकि उनकी निगाह सीताजी के चरणों से आगे (भुजा या कानों के पास) कभी बढ़ी ही न थी।

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले,
नूपुरे त्वभि जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

रावण वध के बाद विभीषण ने रावण के गुणों को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है—"एषोऽहिताग्निश्च महातपाश्च, वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्य शूरः" और उसके दाह कर्म (प्रेत कृत्य) की राम से आज्ञा मांगी है। इस पर राम ने कहा:—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्,
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

'इस रावण के जीवन तक ही इसके साथ अपना वैर था। अब कहाँ का वैर। अब तो यह मेरा भी वैसा ही बंधु है जैसा तुम्हारा।'

कितने उदात्त भाव हैं ये। गोस्वामी जी की रचना में भी ये भाव दुर्लभ हो गये हैं। आज दिन भी ये तथा ऐसे भाव श्रोताओं को भाव विभोर कर देते हैं।

परन्तु फिर भी, विकासशील मानव समाज ने उन श्री महर्षि वाल्मीकि की कृति में भी कुछ कमियाँ पाईं जिससे रामचरित मानस की आवश्यकता पड़ ही गई। महर्षि वाल्मीकि के लिए गोस्वामी जी की यह वन्दना कि "बन्दहुं मुनि पद कंजु रामायन जिन निरमयउ, सखर सकोमल मंजु—दोष रहित दूषन सहित" 'खर' और 'दूषण' शब्दों द्वारा बहुत सी बातों का इशारा कर जाती है। वाल्मीकीय रामायण संस्कृत का ग्रंथ है और अब जमाना हिन्दी का है, इसलिए मानस की उपयोगिता विशेष है, यह तो ठीक ही है। परन्तु चरित्र चित्रण के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि मानस को वाल्मीकीय कथानक का कई जगह परिमार्जन करना पड़ा है, कई जगह उसका खरत्व और दूषणत्व दूर करना पड़ा है।

वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकाण्ड में दशरथ राम से कहते हैं कि जब तक भरत ग़ैर हाज़िर हैं तब तक झटपट तुम्हारा युवराज पद पर अभिषेक कर दिया जाय।

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः,
ताव देवाभिषकस्ते प्राप्त कालो मतोमम।

और मज़ा यह कि राम इस उक्ति पर अपनी मौन स्वीकृति की छाप भी लगा देते हैं!

परन्तु आदेश मिल गया वनवास का। अब दशरथ जी की एक दूसरी सलाह का मुलाहिज़ा कीजिये। वे रामजी से कह रहे हैं—

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः,
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भवराजा निगृह्यमाम्।

"मुझे गिरफ़्तार कर लो, और तुम राजा हो जाओ।" वाह वाह क्या कहना है! 'सुत सनेह इत वचन उत संकट परेउ नरेसु' की विषय समस्या का

कैसा सुन्दर हल बताया गया है ! कवि को यही बात कहनी थी तो इस खूबी से कहते जैसी गोसाई जी ने कही :—

विधिहि मनाव राउ मन माहीं,
जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं,
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी,
विनती सुनहु सदासिव मोरी,
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी,
आरति हरहु दीन जनु जानी।
तुम्ह प्रेरक सब के हृदय, सो मति रामहि देहु।
बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु ॥

अब देखिये इस प्रसंग में कौसल्या जी राम जी से क्या कहती हैं:—

त्वयि सन्निहितेऽप्येवमहमासं निराकृता
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि ॥
यथैव ते पुत्र पिता तथाहं, गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च।
न त्वानुजानामि न मां विहाय सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥

'तुम्हारे रहते तो मेरी यह दुर्दशा है, मेरा यह तिरस्कार है, कैकेयी और उसके सहचर अनुचर लोगों के द्वारा यह लांछना है, फिर तुम्हारे हट जाने पर तो मेरा एकदम मरण ही हो जायगा। पिता आज्ञा दे सकता है तो क्या माता आज्ञा नहीं दे सकती ? मैं आज्ञा देती हूँ कि तुम वन न जाओ।' ज़रा मिलान कीजिये इन श्लोकों का मानस की निम्न पंक्तियों से—

राज देन कहि दीन्ह बन, मोहि न सो दुखलेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥
जौं केवल पितु आयसु ताता, तो जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना, तो कानन सत अवध समाना ॥

सुमंत्र जब राम को भेजकर वापिस आ गये और दशरथ परम हताश

होकर जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगे तब जले पर नमक लगाती हुई सी कौसल्या कहती है :—

हतं त्वया राष्ट्रमिदं स्वराज्यं, हताः स्म सर्वाः सह मंत्रिभिश्च,
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः, सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥

'मुझको और मेरे लड़के को तो तुमने दूसरे लोगों के साथ मार ही दिया, तुम्हारी नई रानी और तुम्हारा इकलौता लड़का ही मजे करें।' कहाँ दशरथ की वह छटपटाहट और कहां कौसल्या का यह मेरा तेरा वाला व्यंग ! क्या राम के समान महापुरुष की माता को ऐसा व्यवहार शोभा दे सकता था ? आदर्श स्थापना की दृष्टि से यह वाक्य कहाँ तक शोभन कहा जा सकता है ? वाल्मीकीय रामायण के लक्ष्मणजी देखिये रामजीको कैसी सलाह दे रहे हैं:—

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थ मिमंनरः,
ताव देव मयासार्धं मात्मस्थं कुरु शासनम् ॥
प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या सन्तुष्टो यदि नः पिता
अमित्रभूतो निःसंगं बध्यतां बध्यतामपि ॥
हरिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्त मानसम्,
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥

वे कहते हैं कि 'वरदान की बात फैलने के पहिले ही यहाँ मिलिटरी कूप खेल डाला जाय। मेरी मदद से राज छीन लो और इस वैरी बाप को खत्म कर दो। इस बुड्ढ़े को बुढ़भस सवार हो गया है !' वाह रे आर्य परम्परा के सपूत !

स्वतः राम का भी हाल देख लीजिये। वे वन गमन के समय सीता से कहते हैं 'देखो, खबरदार ! भरत के सामने मेरे गुणों की चर्चा न करना क्योंकि समृद्धि पाकर मनुष्य दूसरे के गुण सुन नहीं सकता।'

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषाः न सहन्ते परस्तवं,
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥

इसी तरह से वे लक्ष्मण से भी कह जाते हैं कि भैया, घर ही पर रहो, अपने लिए नहीं तो कौसल्या और सुमित्रा के लिए रहो क्योंकि कैकेयी तो अपनी इन सौतों की परवाह करेगी ही नहीं किन्तु राज्य पाकर भरत भी इनका कब ख्याल करेंगे ।

साहिराज्य मिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ।।
न स्मरिष्यति कौसल्यां सुमित्रांच सुदुःखिताम्,
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ।।

आगे चलकर वे वनवास में भी लक्ष्मण से कहते हैं—'एक मदमाती औरत को खुश करने के लिए बाप ने जैसा मेरे साथ किया वैसा एक मूर्ख भी अपने आज्ञाकारी बच्चे के साथ न करेगा ।'

कोह्य विद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत,
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ।।

फिर देखिये, लंका विजय के बाद हनूमान से वे कहते हैं कि भरत को मेरे आगमन का समाचार दो परन्तु बारीकी से यह जरूर देख लेना कि भरत के चेहरे पर उस समाचार का क्या प्रभाव पड़ता है ।

'एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः,
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति ।'

क्यों ? इसलिए कि—

पितृ पैतामहं राज्यं कस्य ना वर्तयेन्मनः ।।

"पुरखों का राज्य हाथ लगकर किसका दिमाग नहीं फिरा देता ।' यह कौटिल्य के जमाने का कोई राज्यप्रेमी कुमार कहता तो ठीक भी था । परन्तु राम के समान 'कोन्यस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान कश्चवीर्यवान्' महात्मा ऐसा कहे और वह भी भरत के समान साधु पुरुष के लिए, इसे क्या कहा जाय कुछ समझ में नहीं आता ।

अब ज़रा सीताजी की मनःस्थिति का भी मुलाहिज़ा कर लीजिये। वे गंगा जी से प्रार्थना करती हैं—

सुराघट सहस्रेण मांसपूतोदनेन च,
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता ॥

'देवी ! हम लोग अयोध्या सकुशल लौट आवें तो हज़ार घड़े शराब और बढ़िया मांससिक्ततण्डुलों से—बढ़िया पुलाव से—तुम्हें प्रसन्न करेंगी।' कैसी अद्भुत संस्कृति थी वह ! नदी को भी मांस और शराब की भेंट ।

हरी जाने पर अकेली बैठी बैठी राम के विषय में वे कल्पना कर रही हैं—

पितु र्निर्देशं नियमेन कृत्वा, वनान् निवृत्त श्चरितव्रतश्च ।
स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः, संरंस्यते वीतभयः कृतार्थः ॥

'मैं समझती हूँ कि आप वन की अवधि पूरी कर अयोध्या लौट गये और अब अनेक विशाल-लोचना नारियों के साथ रमण कर रहे हैं।' जगद्-विख्यात एक पत्नी व्रती के लिए उन्हीं की अर्धांगिनी की ओर से कैसी विचित्र कल्पना है यह !

आगे चलकर युद्ध के समय सीता जी जब निशाचर के मायाचार से भ्रम में पड़ जाती हैं और थोड़ी देर के लिए समझ लेती हैं कि राम मारे गये तब कहती हैं:—

सकामा भव कैकेयि हतोऽयं कुलनन्दनः,
कुल मुत्सादितं सर्वं त्वया कलह शीलया ॥

सबके मन की कुढ़न कैकेयी ही पर जा निकलती है !

जो सन्त राम कथा इसलिए लिख रहा है कि समाज पर एक आदर्श व्यक्ति और एक आदर्श कुटुम्ब की छाप लग जाय वह ऐसे प्रसंगों को मांजे संवारे बिना कहाँ मानेगा।

ऐसा संत अपने आदर्श चरित्रों में विलासिता को तो प्रश्रय दे ही नहीं सकता। हाँ, सरस शृंगारिकता का उल्लेख अवश्य कर सकता है बशर्ते कि वह बड़ी शिष्ट मर्यादा के साथ हो। इसीलिए गोस्वामी जी ने सीताराम

के रास विलास की सी बातें तो उड़ा दीं परन्तु फुलवारी लीला, स्वयंवर लीला आदि की बातें ले लीं, भले ही वे वाल्मीकीय रामायण में न हों, और विलास-परक काव्यग्रंथों में ही हों। इन संयोगों से सरसता भी आ गयी है और कुतूहल वर्धन भी हो गया है। लोक कल्याण की प्रधान भावना में जो कुतूहल बाधक न हो, उसे अपनी रामकथा में ग्रथित कर लेना गोस्वामी जी को अरुचिकर नहीं रहा।

अपनी इस परिमार्जित रामकथा में ऐतिहासिक घटना को सी श्रद्धा कैसे उत्पन्न की जाय, इस प्रश्न पर भी गोस्वामी जी ने पूरा ध्यान दिया है। शास्त्रों का कथन है कि संक्रम और प्रतिसंक्रम के अनेक कल्प हुआ करते हैं और प्रत्येक कल्प में यथापूर्व सृष्टि रचना हुआ करती है। मोटी-मोटी बातें तो वही वही रहती हैं, कुछ इधर उधर की बातों में हेर फेर भी हो जाया करता है। इतिहास जब अपने को दुहराता है तब आवश्यक नहीं रहता कि मक्षिका स्थाने मक्षिका ही हो जाय। इसलिए प्रत्येक कल्प में रामकथा हुई होगी यह तो माना जा सकता है परन्तु सभी बातों की तफ़सील बजिन्स वही रही होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। तब सार यह निकला कि रामकथा के अनन्त प्रकार भेद हो सकते हैं। इसलिए उस कथा की प्रकृति के अनुकूल यदि कोई पाठभेद सुझाया जा रहा है तो उसकी ऐतिहासिकता पर शंका न करनी चाहिए। उसे कोरा काल्पनिक न मान लेना चाहिए। यह बात गोस्वामी जी ने खास जोर देकर कही है।

फिर, सत्य का एक ऐतिहासिक स्तर ही तो नहीं रहा करता। सत्य के अनेक जगत हैं। इतिहास का क्षेत्र केवल इस लोक जगत इस ऐन्द्रिय जगत ही का एक अंश है। इस लोक जगत के परे एक मानस जगत है जहाँ भावनाओं का खेल है। उसके लिए कल्पना भाँति भांति के रूप सजाकर संतोष दिया करती है। इस जगत का सत्य इतिवृत्तात्मक नहीं किन्तु भावनात्मक है। मानस जगत से भी परे एक बौद्धिक जगत है जिसका सत्य तात्त्विक सत्य है। सत्य का यह त्रैविध्य ही ऊँ का भू र्भुवः स्वः है। यही उसका

अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म है। सत्य के और भी प्रकार-भेद हो सकते हैं किन्तु मनुष्य को अनुभूति के साधन तीन ही प्रकार के मिले हैं जो या तो उसकी इन्द्रियाँ है या दिल है या दिमाग़ है। यों भी कह लीजिये कि या तो उसकी इन्द्रियों का—आँख कान आदि का संचालक मनस है या भावनाओं का प्रवाह-स्रोत उसका चित्त है या चिन्तन के तत्व देनेवाली उसकी बुद्धि है। इसलिए उसका सत्य इन्हीं तीनों साधनों तक सीमित है। इन्हीं साधनों की तरतमता के कारण कोई मनुष्य चिकीर्षा प्रधान अथवा कृतिशील हुआ करते हैं, कोई भावना प्रधान अथवा रुचिशील हुआ करते हैं और कोई जिज्ञासा प्रधान अथवा मतिशील हुआ करते हैं। कृतिशील व्यक्ति आधिभौतिक जगत के सत्य में विशेष संतोष मानता है, मतिशील व्यक्ति आध्यात्मिक जगत के सत्य में विशेष संतोष मानता है, रुचिशील व्यक्ति आधिदैविक जगत के सत्य में अधिक रस लिया करता है। कृतिशील व्यक्ति एक ऐसे आराध्य को पसन्द करता है जो मानवी पूर्णताओं से युक्त हो—मर्यादा पुरुषोत्तम हो—परन्तु हो इसी लोक का। रुचिशील व्यक्ति एक ऐसे आराध्य को पसन्द करता है कि जो उसकी भावनाओं को पूर्ण तृप्ति दे सके, आराधना विषयक उसकी सभी कल्पनाओं को संतोष दे सके, भले ही वह किसी कल्पित सातवें आसमान का रहनेवाला क्यों न मान लिया जाय। मतिशील व्यक्ति एक ऐसे आराध्य को पसन्द करता है जो तत्वों का भी चरम तत्व हो, भले ही वह अवांङ् मनस-गोचर हो। कृतिशील को चाहिए नराकार, रुचिशील को चाहिए सुराकार और मतिशील को चाहिये निराकार। मानव जीवन के व्यवहार पक्ष को नराकार आदर्श ही ठीक संभाल सकता है, उसके परमार्थ पक्ष को सुराकार आदर्श की आवश्यकता होती है और उसके अनेकत्व में एकत्व की स्थापना के लिए निराकार आदर्श ही सर्वोत्तम है। इन तीनों को संभाल कर ले चलना ही कुशल कथाकार का काम होना चाहिए।

गोस्वामी जी ने अपनी रामकथा को इतनी व्यापकता दी जिसमें सत्य के तीनों लोकों के, तीनों स्तरों के, तत्व आ जायं। इसीलिए उसकी

उपयोगिता उन्होंने बहुत बढ़ा दी। मानसी रामकथा का शिवशक्ति संवाद अध्यात्म लोक का संवाद-वाहक है, काकभुशुंडि गरुड़ संवाद अधिदैव लोक का संदेशवाहक है और याज्ञवल्क्य भरद्वाज संवाद अधिभूत लोक का पथ-दर्शक है। तीनों श्रोताओं की प्रश्नावली पर विचार कीजिये और तीनों वक्ताओं की वास्तविक स्थिति पर विचार कीजिये तो यह विषय एकदम स्पष्ट हो जायगा। भारतीय वाङ्मय में, हमारे विचार से, और किसी भी कथाकार ने, चाहे वह गोस्वामी जी के आगे हुआ हो चाहे पीछे, ऐसी कोई कथा न कही होगी जिसमें सत्य का त्रैविध्य इस सुन्दर ढंग पर समन्वित किया गया होगा। विश्वसाहित्य में भी संवाद-परम्परा का ऐसा सम्मेलन दुर्लभ ही समझिये।

अपने द्वारा कही जानेवाली रामकथा का रस उनके पास इन तीन दिशाओं से पहुँचा है इसका संकेत करके गोस्वामी जी ने कई बातें एक साथ साध दी हैं। पहिली बात तो इस संकेत द्वारा उन्होंने यह बताई कि सत्य की व्यापकता का कोई अन्त नहीं इसलिए किसी एक पक्ष की हठवादिता अच्छी नहीं। दूसरी बात यह बताई कि चूंकि सत्य अनन्त है इसलिए भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों के कारण भिन्न-भिन्न देखा जा सकता है। अतएव पहिले हमें अपना दृष्टिकोण निश्चित कर लेना चाहिए और उसी दृष्टिकोण से सब कुछ देखने परखने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी सामंजस्य सध सकेगा।

गोस्वामी जी का दृष्टिकोण 'स्वान्तः सुखाय' और 'स्वान्तस्तमः शान्तये' से स्पष्ट हो जाता है। 'मंगलकरनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की'। यह लोक कल्याण ही (जिसमें आत्म कल्याण सम्मिलित है) गोस्वामी जी का दृष्टिकोण था। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अधिभूत जगत् की राम कथा का परिमार्जन किया और इसी दृष्टिकोण से अधिदैव और अध्यात्मजगत् की रामकथा का भी परिमार्जन किया। रामकथा तो उन्होंने गुरु-परम्परा से पाई थी परन्तु उसे कहा उन्होंने अपने ढंग पर। 'जस कछु बुधि विवेक बल मोरे, तस कहिहउं हिय हरि के प्रेरे।' अपनी अनुपम सूझबूझ के कारण

उन्होंने गुरु-परम्परा-प्राप्त राम कथा का ऐसा परिष्कार किया कि उसकी लपेट में समूची भारतीय संस्कृति का उज्वलतम रूप ही सामने रख दिया।

गोस्वामी जी की रामकथा में सत्य का त्रैविध्य अवश्य है परन्तु प्रधानता है उसमें आधिभौतिक चरित्र की ही। वही विस्तारपूर्वक लिखा गया है। उस समय की विविध-सम्प्रदाय-भुक्त जनता के लिए यही आवश्यक भी था। अतएव गोस्वामी जी ने उस चरित्र का व्यावहारिक रूप इतना विकसित किया है कि भारत से बाहर के किसी साकेत धाम का सविस्तार वर्णन किया ही नहीं। राम आये और भारत ही में विश्व के आराध्य बनकर बस गये। फिर वे जायेंगे कहाँ और जायेंगे क्यों? भौतिक साकेत का रामराज्य—अखिल लोक कल्याणकारी सुव्यवस्थापूर्ण आध्यात्मिक शासन,—ही तो उनका परम धाम है। जहाँ वह है वहाँ वे हैं।

राम की इस लीला में साम्प्रदायिक विरोध की गुंजाइश ही कहाँ। राम कथा पूछी जाने पर शिवकथा कहकर वक्ता महोदय श्रोता का 'मर्म' बूझते हैं। शिव स्वतः राम की कथा के प्रधान वक्ता बनते हैं और राम स्वतः भारत की सीमा पर शिव की उपासना का शिलान्यास करते हैं। यह है गोस्वामी जी की मानसी कथा का साम्प्रदायिक समन्वय।

साम्प्रदायिक एकता का भाव तो इस कथा में इतना प्रबल है कि अध्यात्म रामायण के दो उदाहरण इस प्रसंग की पुष्टि में बड़े मजे में दिये जा सकते हैं। गोस्वामी जी अपने राम के अनन्य भक्त थे और रामकथा के भक्ति-परक विकास में अध्यात्म रामायण का बड़ा ऊंचा स्थान है ही इसलिए अपनी राम कथा के लिए गोस्वामी जी ने उसका बहुत सहारा भी लिया है। परन्तु जबकि अध्यात्म रामायण में स्वतः रामजी के मुख से क्रियायोग विस्तार से बताया जाकर मूर्तिपूजा और साम्प्रदायिक पद्धतियों पर जोर दिलवाया गया है, (देखिये किष्किंधा काण्ड चतुर्थ सर्ग) तब गोस्वामी जी ने न तो कहीं राम जी के मुख से यह आदेश दिलवाया कि मूर्तिपूजा को भक्ति-योग का आवश्यक अंग समझो, न क्रियायोग की सी कोई बात कहीं कही।

'सरल सुभाव न मन कुटिलाई', वाले आस्तिक्य भाव ही को गोस्वामी जी ने सब साधनों का सार बता दिया है।

• दूसरा उदाहरण इससे भी मजेदार है। वह है शबरी के प्रति कहा गया नवधा भक्ति योग। अध्यात्म रामायण के अनुसार वह इस प्रकार है :—

तस्माद्भामिनि संक्षेपाद् वक्ष्येऽहं भक्ति साधनम्,
सतां संगति रेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणे रणम्,
व्याख्यातृत्वं मद् वचसां चतुर्थं साधनं भवेत् ॥
पंचमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च
आचर्य्योपासनं नित्यं मद् बुद्धयामायया सदा ॥
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधन मीरितम्,
मम मंत्रोपासकत्वं सांगं सप्तम मुच्यते ॥
मद् भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः,
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा ॥
अष्टमं, नवमं तत्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥

मानस के अनुसार वह इस प्रकार है :—

नवधा भगति कहहुं तोहि पाहीं, सावधान सुनु धरु मनमाहीं।
प्रथम भगति सन्तन्ह कर संगा, दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरु पदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान,
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान ॥
मंत्र जाप मम ृढ़ बिस्वासा, पंचम भजनु सो वेद प्रकासा।
छठ दम सीलु बिरति बहु कर्मा, निरत निरंतर सज्जनु धर्मा ॥
सातवं सम मोहिमय जग देखा, मोतें सन्त अधिक करि लेखा।
आठवं जथा लाभ संतोषा, सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा ॥

नवम सरल सब सन छल हीना, मम भरोस हिय हरष न दीना।
नवमहँ एकहु जिनके होई, नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे, सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥

दोनों में कुछ मेल सा देखकर लोग कह दिया करते हैं कि गोस्वामी जी ने यहां अध्यात्म रामायण का अनुवाद कर दिया है। परन्तु दोनों फ़ेहरिस्तों को थोड़ा ध्यान पूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि अध्यात्म रामायण में प्रथम साधन के बाद सब साधन रामपरक ही रहते हैं, 'मेरी कथा कहो, मेरे गुण गाओ, मेरे वचनों का व्याख्यान करो' आदि। मानस की फ़ेहरिस्त में न केवल पहिला साधन (सत्संग) ही रामपरक नहीं है किन्तु तीसरा साधन (गुरुसेवा) छठां साधन (सज्जनधर्म) और आठवां साधन (यथालाभ-संतोष) भी रामपरक नहीं है। गोस्वामी जी का कहना है:—

कै तोहिं लागहिं राम प्रिय, कै तू हरिप्रिय होइ,
दुइ महँ तो कहं जो रुचै, कीजै तुलसी सोइ ॥

जो मनुष्य सत्संगी है, गुरु-जन-सेवक है सज्जनधर्मी है, अथवा यथा-लाभ संतोषी है, वह भले ही राम राम न कहे और राम भक्त भी न हो तो भी वह राम को प्यारा है। इस श्रेणी में सभी सम्प्रदाय के सज्जन व्यक्तियों का समावेश हो जाता है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। अध्यात्म रामायण का छठवां साधन, 'निष्ठा मत्पूजने नित्यं', मानस की फ़ेहरिस्त में कहीं स्थान नहीं पा सका है। गोस्वामी जी के राम यह कहीं नहीं कहते कि मेरी पूजा करो। (भजन और पूजन का अन्तर समझियेगा)। वे तो इतना ही चाहते हैं कि मुझसे प्रेम करो और मेरे बताये मार्ग पर चलो। उसके लिये भी उनका आग्रह नहीं है। 'कहहुं करहु जो तुम्हहिं सुहाई।' तुम्हें पसन्द हो तो मानो न पसन्द हो तो न मानो।'

कौन कह सकता है कि यह किसी साम्प्रदायिक आराध्य का कथन होगा ?

भारतीय संस्कृतिको गोस्वामी जी का अन्य योगदान

जैसा कि हम कल कह आये हैं, भारतीय संस्कृति को गोस्वामीजी का सबसे बड़ा योगदान है उनकी दी हुई रामकथा। रामकथा तो सैकड़ों हज़ारों कवियों ने दी परन्तु जिस प्राणप्रद भाषा के द्वारा और जिस ढंग से इन्होंने वह कथा दी है उसका अन्यत्र दर्शन ही दुर्लभ है। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि 'भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने बहुत अधिक भाग लिया है। तुलसीदास के चेतनमय रामचरित-मानस के अभाव में किसानों का जीवन जड़वत और शुष्क बन जाता। पता नहीं कैसे क्या हुआ परन्तु यह तो निर्विवाद है कि तुलसीदास जी की भाषा में जो प्राणप्रद शक्ति है वह दूसरों की भाषा में नहीं पाई जाती।' (धर्मतत्व पृष्ठ ७५)। आलोचक-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने भी ठीक ही कहा है कि "गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिन्दू जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है, महत्त्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलम्बन करती है और मानवजीवन के महत्व का अनुभव करती है।" मैं तो यह कहूंगा कि केवल हिन्दू जनता ही नहीं, किन्तु मुसलमान और ईसाई जनता भी, जिसने गोस्वामी जी की वाणी का रसास्वादन किया है और उनके रामचरितमानस में गोते लगाये हैं, इसी प्रकार मानव-जीवन के महत्त्व का अनुभव करती रहती है। मुझे विदित है कि कई मुसलमान अब भी श्रद्धापूर्वक इसका नित्य पारायण करते हैं।

गोस्वामी जी ने अपनी रामकथा जिस भाषा में दी है, उसकी शक्ति का पूरा रहस्य समझा देना असंभव व्यापार है। स्वतः समझ लेना भी बहुत कठिन ही है। भाषा का जन्म होता है, मानवों को अधिकाधिक समीप लाने के लिये। परन्तु वही मानव-समाज को वर्गों में भी विभाजित कर दिया करती है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने ठीक ही तो कहा है कि 'मनुष्य के साथ मनुष्य के योग के लिये ही भाषा है। लेकिन भाषा ही व्यापक और गंभीरतर योग में बाधक हो उठती है।' (संस्कृति संगम १५१) अतएव इस परिस्थिति में जिस महापुरुष की भाषा अपने मानवीय वर्ग का प्रतिनिधित्व तो कर ही रही हो परन्तु साथ ही अपने वर्ण्य विषय और अपनी लक्षणा तथा व्यंजना आदि शक्तियों के कारण अखिल मानव-समाज के व्यापक और गंभीरतम योग की साधक भी हो रही हो, वह निःसंदेह धन्य है। गोस्वामी जी की भाषा में हम वह चमत्कार पाते हैं।

उनकी भाषा भारत के हृदय की भाषा है—केन्द्र की भाषा है—परन्तु वह पूरे हिन्दी भाषी क्षेत्र में बड़े मज़े से समझी जा सकती है। उसने भारतीय राष्ट्र भाषा की परम्परा को ख़ूब पहिचाना और अपने को उसी रंग में रँग लिया है। वह न केवल संस्कृत-निष्ठ है किन्तु जनभाषा का रूप भी पूरी तरह सँभाले हुए है। साथ ही, उसने विभिन्न प्रान्तों ही के नहीं किन्तु फ़ारसी अरबी के से विदेशी शब्द भी इस ख़ूबी से पचा लिये हैं कि वे स्वदेशी जामा पहिन कर एकदम स्वदेशी से बन गये हैं। भाषा स्वतः एक बहुत बड़ी सांस्कृतिक देन मानी गई है। गोस्वामी जी ने जन-भाषा को इतना सुन्दर संवारा है कि भारत के लिये राष्ट्र भाषा का एक बढ़िया सा सांचा भी उसमें झलक पड़ा और संसार के लिये एक सुन्दर कलाकृति भी उसमें मिल गई। उनका अमर काव्य इन दोनों दृष्टियों से भी उनकी एक अमर देन है।

अपनी रामकथा की लपेट में गोस्वामी जी ने जो महामहिम परम अमूल्य सांस्कृतिक रत्न दिया, वह है राम का व्यक्तित्व। राम के व्यक्तित्व

के दो पहलू हैं। एक है जनकल्याण और विशेषतः भारतीय जनकल्याण की दृष्टि से उनका मर्यादा पुरुषोत्तम रूप और दूसरा है साधकों का हितप्रद इष्टदेव रूप। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि गोस्वामी जी की कृति में साधुमत और लोकमत दोनों का समन्वय है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासन के लिये है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामी जी की धर्म-भावना के भीतर है।' आत्मकल्याण साधुमत का विषय है राष्ट्रकल्याण लोकमत का विषय है। गोस्वामी जी के राम दोनों पक्षों को लेकर अवतीर्ण हुए हैं और युगधर्मानुसार ऐसा आकर्षक रूप लेकर अवतीर्ण हुए हैं कि बस, देखते ही बनता है।

मनुष्य का अपने आदर्श पूर्णत्व की ओर सहज आकर्षण होता है और जो मनुष्य आदर्शपूर्णत्व के जितने समीप रहेगा उसकी ओर जनसाधारण का आकर्षण भी उतना ही प्रबल होगा। वीर पूजाका यही रहस्य है, सौंदर्य पूजा का भी यही रहस्य है। जिस व्यक्ति में जितनी अधिक शक्ति, जितना अधिक शील और जितना अधिक सौंदर्य होगा वह जन-समाज को अपनी ओर उतना ही अधिक आकृष्ट कर लेगा। राम में शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा थी यह गोस्वामी जी ने बड़ी सफलता के साथ चित्रित किया है और ख़ूबी यह कि उन्हें मानव हृदय के तने नज़दीक लाकर खड़ा कर दिया है कि हर कोई उनमें अपनी आत्मीयता का अनुभव सा करने लगता है। शुक्ल जी ने ठीक ही कहा है कि 'किसी श्रेणी का हिन्दू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—सम्पत्ति में विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनन्दोत्सव में, जहां देखिये वहां राम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिन्दू जीवन को राममय कर दिया है।'

राम के व्यक्तित्व के संबंध में उनकी परिस्थिति जितनी आदर्श थी उतनी शायद ही अन्य किसी की रही हो। कृष्ण को भी वह परिस्थिति

नहीं रही, बुद्ध की भी वह परिस्थिति नहीं रही। अतएव जनसाधारण की श्रद्धा उनकी ओर स्वाभाविक थी। फिर, गोस्वामी जी ने राम की आकृति इतनी आदर्श बता दी जितनी कदाचित ही कोई कवि अपने नायक की बता सका होगा। कुछ पंक्तियां देखिये :—

होहिं प्रेम बस लोग इमि राम जहां जहं जाहिं ॥

बरनत छवि जहं तहं सब लोगू, अवसि देखिये देखन जोगू।
अस को जीवजंतु जग माहीं, जेहि रघुनाथ प्राणप्रिय नाहीं।
खग मृग मगन देखि छवि होहीं, लिये चोरि चित राम बटोहीं।
जिन्हहिं निरखि मग सांपिनि बीछी, तजहिं विषम विष तापस तीछी।

सौंदर्य की वह मौन प्रभावात्मकता निःसंदेह अपूर्व है जिसके कारण तामसी जीवों का भी स्वभाव बदल जाय। भागवतकार ने कृष्ण के सौंदर्य पर बहुत सुन्दरता के साथ कहा है कि 'त्रैलोक्य सौभग मिदं च निरीक्ष्य रूपं, यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन्'—परन्तु केवल पुलकित होकर रह जाने में वह बात नहीं आ पाई है जो 'तजहिं विषम विष तामस तीछी' में आ गई है। राम के ऐसे अनिन्द्य सुन्दर रूप की झांकी गोस्वामी जी ने जगह जगह दिखाई है।

ऐसी आदर्श परिस्थिति और ऐसी आदर्श आकृति के भीतर सजी हुई राम की आदर्श प्रकृति का शील शक्ति सौंदर्यमय रूप इस ख़ूबी से खिला है कि देखते ही बनता है। उनके शील में परम औदार्य है, परम कारुण्य है परम शरण्यत्व है। उनका परम औदार्य देखिये :—

'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।' अथवा
'मैं जानहुं निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ।'
'जन कहं कछु अदेय नहिं मोरे, अस विस्वास तजहु जनि भोरे॥'

'जो सम्पति सिव रावणहिं दीन्हि दिये दसमाथ,
सोइ सम्पदा विभीषणहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥'

उनका परम कारुण्य देखिये :—

'रहति न प्रभु चित चूक किये की,
करत सुरति सत बार हिये की ॥'
'अति कृपालु रघुनायक, सदा दीन परनेह।'
'कोमल चित अति दीनदयाला, कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥'

उनका परम शरण्यत्व देखिये :—

'मम पन सरनागत भय हारी।'
'कोटि विप्र बध लागहि जाहू, आये सरन तजहुं नहिं ताहू ।
सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं, जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥'

इष्टदेव के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिये इससे बढ़कर शील के लक्षण और चाहिये ही क्या। इसीलिये तो गोस्वामी जी ने कहा :—

प्रभु तरुतर कपि डार पर, ते किय आपु समान।
तुलसी कतहुं न राम से, साहिब सील निधान ॥

मानवलीला का शील भी उनमें ग़जब का था। क्या मजाल कि कैकेयी अथवा मन्थरा या सूर्पणखा के लिये भी उनके मुख से कोई कठोर शब्द निकल जाय। रावण को भी नीतिवाक्य का स्मरण दिलाते हैं तो बहुत क्षमायाचनापूर्वक। पुरवासियों से भी मर्यादामार्ग की बातें करते हैं तो डिक्टेटरी की हैसियत से नहीं किन्तु यह कह कर कि 'कहहुं करहु जो तुम्हहिं सुहाई।' पुरजनों, परिजनों, स्वजनों, परजनों——सभी से उन्होंने जब जब जैसा व्यवहार किया है उसमें उनका आदर्श शील टपका पड़ रहा है। किसी के मानवी शील से जब श्रद्धालु का हृदय अभिभूत हो जाता है तभी उस श्रद्धालु की कल्पना आगे बढ़कर उस मानव को अतिमानवी सिंहासन पर अधिष्ठित कर लिया करती है। गोस्वामी जी द्वारा चित्रित राम का मानवीशील अनायास ही इष्टदेवत्व का अतिमानवी सिंहासन प्राप्त कर लेता है।

जो हाल राम के शील का है वही उनकी शक्ति का भी है। उनका शरीर बल भी आदर्श था और आत्मबल भी आदर्श था। एकाकी होते

हुए भी राक्षसों का दमन तथा संहार कोई साधारण बात न थी और न रावण के समान लोकविद्रावण आततायी का सन्मुख समर में वध कर देना ही कोई साधारण बात थी। कितना अतुल शरीर बल होगा श्री रामचन्द्र जी में। फिर, राज्य त्याग—न केवल अयोध्या का किन्तु किष्किन्धा और लंका का भी—आर्य अनार्य संगठन, रूढ़ि और विवेक दोनों का सुचारु एकीकरण, इन सब बातों में कितने प्रबल आत्मबल की आवश्यकता होगी यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस आदर्श मानवी शक्ति को 'इष्टदेव' की अनन्त दैवी शक्ति में जिस खूबी के साथ परिणत करके गोस्वामी जी ने दिखाया है वह अन्यत्र दुर्लभ सी जान पड़ती है। उनकी शक्ति का वह विराट् रूप, उनका वह अखिल ब्रह्माण्ड नायकत्व, उनका वह करोड़ों ब्रह्मा विष्णु और महेश्वरों से भी श्रेष्ठतम स्वामित्वभाव, सहृदय लोगों के अनुभव करने की वस्तु है। कह कर उसका कहां तक वर्णन किया जाय।

जीवन को सरस और उन्नत बनाने के लिये एक महामानव का ध्यान ही पर्याप्त नहीं है किन्तु यह भी आवश्यक है कि श्रद्धालु उस महामानव को अपनी हर परिस्थिति में अपने सहायक के रूप में उपस्थित पावें, उसे देश और काल के बंधनों से मुक्त देखें, उसमें असीम शक्तियों के स्वामित्व का विश्वास पावें और उसे अपने प्रति परम सहृदय भी अनुभव करें। अपने ही प्रति नहीं, अखिल विश्व के प्रति भी। गोस्वामी जी के राम इसी तरह के नर-नारायण की जीवित जाग्रत झांकी दिखा रहे हैं।

गोस्वामी जी ने राम के व्यक्तित्व को कौटुम्बिक इकाई और शासकीय इकाई में भी इस तरह विकसित कर रखा है कि उनका कुटुम्ब एक परम आकर्षक आदर्श कुटुम्ब बन गया है और उनका राज्य एक परम आदर्श आकर्षक राज्य बन गया है। वह कुटुम्ब ऐसा नहीं जिसमें जनसाधारण अपने हृदय की आत्मीयता का अनुभव न करता हो और वह राज्य भी ऐसा नहीं जिसमें जनसाधारण अपने पूरे विकास की सामग्री न पा रहा हो। गोस्वामी

जी के राम सभी स्थलों और सभी कालों के लिये सामयिक बन कर सामने आये। गोस्वामी जी के देशकाल में तो उन्होंने आकर मंगलाशा का ऐसा प्रभात बिखेर दिया कि पराधीन हिन्दू समाज एक नवीन चेतना से ओत-प्रोत हो गया। उसे एक नया अद्भुत बल मिल गया। उसमें एक नई अपूर्व संगठन शक्ति आ गई। उसे एक ऐसा अजेय रथ मिल गया जिस पर चढ़ कर वह भी राम के समान कह सकता था,

'सखा धर्ममय अस रथ जाके, जीतन कहं न कतहुं रिपु ताके।'

डाक्टर जे० एम० मेकफ़ी महोदय ने इसीलिये ठीक ही कहा है कि 'गोस्वामी तुलसीदास की रचना में मनुष्य रूप भगवान का परमोच्च और सच्चा आध्यात्मिक स्वरूप पाया जाता है। भारतीय साहित्य में उनका नायक अपना सानी नहीं रखता।'[1]

रामकथा की लपेट में गोस्वामी जी का दिया हुआ महामहिम दूसरा अमूल्य सांस्कृतिक रत्न है उनका राम-भक्ति पथ। यह राम-भक्ति पथ उनके 'बिरति बिवेक संयुत श्रुति सम्मत हरि-भक्ति पथ' का ही दूसरा नाम है। हम पहिले ही कह आये हैं कि भारतीय संस्कृति के उज्वल रूप का ही नाम गोस्वामी जी के शब्दों में है 'श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संयुत बिरति बिवेक'। अतएव गोस्वामी जी के इस राम भक्तिपथ में साम्प्रदायिकता की कोई गुंजाइश नहीं है। यही कारण है कि वे किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्त्तक न कहे जा सके। यही कारण है कि यदि इधर एक जैन सज्जन ने प्रेमपूर्वक कहा—'बिराजै रामायन घट माहीं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख जानै नाहीं।।'[2]
तो उधर एक मुसलमान सज्जन नें भी उसी प्रेम से कहा :—

[1] It (Idea of personal God) has found its highest spiritual expression in the work of Tulsidas. His hero is the worthiest figure in all Indian Literature.—(Page 252.)

[2] जैन सुकवि बनारसी दास जी

रामचरित मानस विमल, सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को वेद सम, जवनहिं प्रगट क़ुरान ॥[१]

और यही कारण है कि आस्तिक ईसाई इंगलैंड और नास्तिक रूस तर्क में इस राम भक्ति-पथ की बातें बड़ी श्रद्धा से पढ़ी सुनी जाती हैं। एक मुसलमान को यह राम भक्ति पथ अपनाने के लिये हिन्दू संस्कारों में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं रहती। एक जैन अथवा बौद्ध सज्जन को इसके लिये श्री जिनेंद्र अथवा तथागत की उपसना त्यागने की आवश्यकता नहीं पड़ती। न इसमें शिखा-सूत्र का बंधन है और न कलमा या सुन्नत सरीखा ही कोई प्रतिबंध है।

इस भक्तिपथ में योग, यज्ञ, जप, तप, उपवास आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा,
योग न मख जप तप उपवासा।
सरल सुभाव न मन कुटिलाई,
जथा लाभ संतोष सदाई ॥

इस पथ में केवल एक ही वस्तु अभीष्ट है और वह है 'सरल सुभाव न मन कुटिलाई, यथालाभ संतोष सदाई।' हृदय की निश्छलता, हृदय की अनासक्ति, हृदय की शान्ति। किस सम्प्रदाय वाला इस वस्तु पर महत्व न देगा? किस सम्प्रदाय वाला इसको अभीष्ट न बतावेगा?

शबरी की नवधा भक्ति का क्रम देखिये। उसके साढ़े चार अंग तो आस्तिक्य से संबंधित हैं, उन लोगों से संबंधित हैं—जिनको रामप्रिय लग रहे हैं, और शेष साढ़े चार अंग उनसे संबंधित हैं जिन्हें लोककल्याण का पथ प्रिय लग रहा है अर्थात जो विश्वंभर की विश्वरचना के सेवक के

---

[१] सुप्रसिद्ध अब्दुर्रहीम खानखाना (सुकवि रहीम)

नाते उस हरि को (उस राम को) प्रिय लग रहे हैं। दोनों को गोस्वामी जी ने समान मान दिया है।

कै तोहिं लागहिं राम प्रिय,
कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ महं रुचै जो सुगम सो,
कीजै तुलसी तोहि॥

किस सुसंस्कृत सम्प्रदाय वाला कहेगा कि लोककल्याण न करो? तब फिर किस सम्प्रदाय से गोस्वामी जी के रामभक्तिपथ का विरोध हो सकता है?

मानस के एक बड़े प्रेमी इसी नागपुर के सुयोग्य विद्वान श्री जामदार महाशय ने मानस-हंस नामक ग्रंथ में यह संकेत दिया है कि गोस्वामी जी अकबरी राज्य से अथवा यों कहिये कि विदेशी मुहम्मदी राज्य से असन्तुष्ट थे और इसीलिये रावणराज्य में कुछ उसका सा ही चित्रण करके उन्होंने अपने राम द्वारा उसका विध्वंस कराया है। मैं मानता हूं कि गोस्वामी जी को अपने समय की वस्तुस्थिति का पूरा ज्ञान था जैसा कि उनके कलि-धर्म वर्णन से विदित होता है और यह भी मानता हूं कि उन्हें खरी कहने में किसी प्रकार का डर या संकोच नहीं था जैसा कि दोहावली के इस दोहे से विदित होता है :—

गोंड़ गंवार नृपाल महि, जवन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कछु, केवल दण्ड कराल॥

परन्तु यह भी स्पष्ट देख रहा हूं कि गोस्वामी जी की दृष्टि मोहम्मदी राज्य तक ही जाकर नहीं अटक गई थी। उन्हें मोहम्मदी धर्म पर नहीं किन्तु मोहम्मदी धर्म का दंभ रखने वाले किन्तु वस्तुतः मोह-मदी धर्म का आचरण करने वाले आततायियों की कार्य-परम्परा पर रोष था। (परिहरि मान मोह-मद, भजहु कोसलाधीश)। ऐसे मोह-मदी लोग ही निशाचर कहे जा सकते हैं।

लोभी लम्पट चोर जुवारा,
जे ताकहिं परधन पर दारा,
जिन्ह के ये आचरन भवानी,
ते जानहु निसिचर सम प्रानी ॥

ऐसे निशाचर किस सम्प्रदाय और किस समाज में नहीं हैं ? उनके विरुद्ध सब सज्जनों को संगठित कर देना और आशावाद का एक मंगलमय सक्रिय उल्लास भर देना किस समझदार व्यक्ति को अरुचिकर जान पड़ेगा ? मुसलमानों ने इसीलिये गोस्वामी जी के राम भक्तिपथ के विरुद्ध एक शब्द नहीं कहा और ईसाई विचारकों ने तो इसे सर्व सम्प्रदाय सम भावी सार्वभौम संदेश के रूप में ही पाया।

गोस्वामी जी ने अपने भक्तिपथ के लिए एक इष्टदेव चुन लिया परन्तु दूसरों के इष्टदेव की बुराई कभी की ही नहीं। न उन्होंने ईसाइयों के इष्टदेव पर कोई टीका टिप्पणी की न मुसलमानों के इष्टदेव पर। प्रत्युत मुसलमानों के इष्टदेव संबंधी ऐसे शब्द जो किसी संकीर्ण अर्थ में नहीं बंध चुके थे, उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपना लिए हैं। 'सरल सबल साहिब रघुराजू'। 'तुलसी कतहुं न राम से साहेब शीलनिधान' आदि में देखिये 'साहेब' किस खूबी से विराजे हुए हैं। परन्तु जिन शब्दों से यह अर्थ द्योतित होता हो कि परमात्मा सर्वशक्तिमान होते हुए भी साकार हो नहीं सकता, या यों कहिये कि साकार होने की शक्ति नहीं रखता, उन शब्दों को गोस्वामी जी ने दूर ही रखा है। एक तो यह सिद्धान्त भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं है दूसरे पराधीन भारतीय जनता के हृदयों में यह सिद्धान्त उस समय लाभ के बदले हानि ही अधिक पहुँचा सकता था, तीसरे, तर्क अथवा विवेक की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त ठीक ठीक खरा भी तो नहीं उतर पाता। गोस्वामी जी ने इसीलिए न केवल ऐसे विदेशी शब्दों का बहिष्कार ही किया किन्तु इन्हीं की वजन पर 'अलख' और 'राम' सरीखे स्वदेशी शब्दों का व्यवहार करनेवालों को उन्होंने कड़ी फटकार भी दी है।

भारतीय सुसंस्कृत समाज में उस समय वैदिक पद्धति ही का बहुत ज़ोर था और उस पद्धति में शिवशक्ति और विष्णु (अर्थात् कृष्ण और राम) की उपासना ही बहुत प्रचलित थी। अवैदिक पद्धतिमें या तो जैनों की मान्यता थी या सन्त नामधारी निराकार वादियों की। गोस्वामी जी का जैनों से कोई विरोध नहीं रहा। एक पद में उन्होंने तीर्थंकर भगवान पार्श्व-नाथ जी का भी श्रद्धापूर्ण स्मरण किया है।[1] सन्तों की महिमा में तो उन्होंने न जाने कितना लिखा है। उनके नाम माहात्म्य को गोस्वामी जी ने भरपूर स्वीकृत कर लिया है। सन्तों द्वारा किया गया सगुण साकार खण्डन ही गोस्वामी जी को पसन्द नहीं आया परन्तु स सगुण पक्ष के स्थापन के लिए भी उन्होंने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा और भावना पर ही विशेष बल दिया है।

'जाके रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥'

'जाके हृदय भगति जस प्रीती, प्रभु तहं प्रगट ताहि तस रीती ॥'

शक्ति की पूजा के साथ वामाचार की तांत्रिकता इतनी सम्मिलित हो चुकी थी जिसे गोस्वामी जी कभी पसन्द न कर सकते थे। फिर भी उन्होंने अपनी आराध्या सीता जी के मुख से जगदम्बा पार्वती जी के विषय में सर्वोच्च भावनाएँ व्यक्त करवाई हैं।

नहिं तव आदि मध्य अवसाना,
अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।
भव भव विभव पराभव कारिनि,
विस्व विमोहिनि स्ववस विहारिनि ॥

एक शाक्त इससे अधिक और क्या कह सकेगा ?

अब रहे शिव, राम और कृष्ण। सो, पुरुष प्रधान परम्परा में पले

---

[1] वह पद है :—
जिहिं नाथ पारस जुगल पंकज, चित्त चरनन जास,
रिधि सिद्धि कमला अजर राजित, भजति तुलसीदास ॥

गोस्वामी जी ने इन तीनों में एकदम अभेद देखा है । विनय पत्रिका के उनके पद देखिये । जो राम हैं वही कृष्ण हैं और जो राम तथा कृष्ण हैं वही शिव हैं, यह गोस्वामी जी ने कई स्थलों पर कई ढंगों से स्पष्ट किया है। जिसे जो इष्टदेव रुचे वह उन्हें ही ग्रहण कर ले और उन्हीं के नाम को अपने लिए महामंत्र मान ले । इसमें गोस्वामी जी को कोई आपत्ति नहीं है । वे साफ़ शब्दों में कहते हैं:—

'भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।'

अपने लिये अलबत्ता उसी पद में वे कहते हैं:—

'मेरे तो माइ बाप दुइ आखर, हौं शिशु अरनि अरो ।'

राम और कृष्ण के इष्ट देवत्व के संबंध में एक विशेष बात यह है कि वे अवतारी पुरुष माने जाते हैं । अवतार में नर और नारायण दोनों का सम्मिलित रूप रहा करता है इसलिए वह नर हृदय को अधिक आकृष्ट कर सकता है । महात्मा गांधी के शब्दों में हम भी कह सकते हैं कि "जीव मात्र ईश्वर का अवतार है, परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते । जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है उसी को भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है ।" और डाक्टर श्याम सुन्दर दास तथा डाक्टर बड़थ्वाल के शब्दों में कहा जा सकता है कि "लोक कल्याण की दृष्टि से सगुणोपासना के क्षेत्र में भक्ति का चरम उत्कर्ष अवतारवाद की भावना में मिलता है । अवतार नाम और रूप की परम मनोहर सुग्राह्य विभूति है, मुक्ति और आसक्ति का समन्वय है । अवतार की भावना के ही कारण मनुष्य के कार्यों में ईश्वर का हाथ दिखायी देता है, सत्प्रवृत्तियों के लिए दृढ़ आधार मिल जाता है, मनुष्यता को विकसित होकर ईश्वरीय विभूति में परिणत हो जाने का मार्ग खुल जाता है, और दुःखवाद के अंधकार में पड़े हुए संसार पर मंगलाशा की ज्योति फैल जाती है जिससे उत्साहित होकर भक्त इस लोक और परलोक दोनों को एक ही युद्धक्षेत्र में जय कर सकता है ।"

इस परिस्थिति में, शिव का पूर्ण सम्मान करते हुए भी गोस्वामी जी

ने हरि का अवतारी इष्टदेवत्व अधिक पसन्द किया है और अवतारी पुरुषों में भी कृष्ण की अपेक्षा राम की ओर अधिक ध्यान दिया है क्योंकि साधुमत और लोकमत दोनों दृष्टियों से राम का चरित्र ही परम संतोषप्रद हो सकता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने कृष्ण अथवा शंकर के लिए कभी कोई ऐसे शब्द कहे हों जो उनके उपासकों की दृष्टि में अरुचि कर जान पड़ें। शैव पुराणों के आधार पर ही उन्होंने शिव को रामकथा का प्रधान वक्ता बनाया है।

गोस्वामी जी अपने लिए कहते हैं कि उन्हें राम नामक महामंत्र मिल चुका है और इसीलिए इस नाम की महिमा गाते हैं। परन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो भारतीय संस्कृति में इसी नाम ने ओम् के समकक्ष होकर प्रधानता पाई है और जहाँ ओम् केवल निर्गुण का द्योतक रहा है, 'राम' सगुण और निर्गुण दोनों का द्योतन कराता है। अतः गोस्वामी जी ने अपने राम भक्ति पथ का—श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथका—प्रधान आधार बनाया है राम नाम को। 'राम जपु राम जपु राम जपु बावरे!' यह भले ही उन्होंने अपने मन को संबोधित करके कहा हो परन्तु है यह वाक्य अखिल भारतीय जनता के लिए।

इष्टदेव के नाम जप का प्रकरण लेते हुए महात्मा-गांधी कहते हैं—"नाम की महिमा के बारे में तुलसीदास ने कुछ भी कहने को बाकी नहीं रखा है। द्वादशाक्षर मंत्र, अष्टाक्षर, इत्यादि सब इस मोहजाल में फंसे हुए मनुष्य के लिए शान्तिप्रद हैं इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले उस मंत्र पर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शान्ति का अनुभव ही नहीं है और जो शान्ति की खोज में है उसको तो अवश्य रामनाम पारस मणि बन सकता है। ईश्वर के सहस्र नाम कहे हैं उसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं गुण अनन्तहैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परन्तु देहधारी के लिए नामका सहारा अत्यावश्यक है। और इस युग में मूढ़ और निरक्षर भी रामनाम रूपी एकाक्षर मंत्र का सहारा ले

सकता है। (कल्याण भाग २ सं० १ पृष्ठ ९६) अन्यत्र वे कहते हैं—"राम शब्द के उच्चार से लाखों करोड़ों हिन्दुओं पर फौरन असर होगा और गॉड शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उन पर कोई असर न होगा।" (धर्मपथ पृष्ठ २४)

अपने रामभक्ति पथ में गोस्वामी जी का यह आग्रह नहीं है कि परलोक के आनन्द के लिए रामभक्ति की जाय अथवा राम को जगदीश मान ही लिया जाय।

दोहावली में वे कहते हैं:—

> जौं जगदीस तौं अतिभलो जो महीस तो भाग।
> तुलसी चाहत जनम भरि राम चरन अनुराग॥

गीतावली में वे कहते हैं:—

> को जानै को जै है जमपुर, को सुर पुर पर धाम को,
> तुलसिहिं बहुत भलो लागत, जगजीवन रामगुलाम को॥

ये दोनों ही उद्धरण गंभीरता पूर्वक मनन किये जाने लायक हैं। इन पंक्तियों के रहते हुए गोस्वामी जी पर कोई भी व्यक्ति साम्प्रदायिकता का आरोप लगा ही नहीं सकता।

गोस्वामी जी का रामभक्ति पथ एकदम नक़द धर्म है। उसमें किसी कल्पित स्वर्ग का लालच नहीं, किसी बाह्यविधान का (यहाँ तक कि मूर्ति-पूजा तक का भी) बंधन नहीं। वह लोक कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। और अवस्था के अनुसार व्यवस्था रचनेवाले विवेक से पूर्णतः संतुलित है।

उसका सार है :—

> प्रीति राम सों, नीतिपथ चलिय, रागरिस जीति।
> तुलसी सन्तन के मते, इहै भगत की रीति॥

गोस्वामी जी के इस राम भक्तिपथ में सन्तमत और लोकमत दोनों का सुन्दर समन्वय हो गया है, भारतीय संस्कृति का मनोज्ञ रूप आप ही निखर

आया है, धर्मनीति और राजनीति दोनों संभल गई हैं, शुद्धि संगठन आदि की व्यवस्था बिना कहे सम्पन्न हो गई है, और लोक कल्याण के न जाने कितने स्वस्थ तत्व आप ही आप स्फुरित हो गये हैं।

रामकथा की लपेट में गोस्वामी जी द्वारा दिये हुए अन्य सांस्कृतिक रत्न भी हैं। ऐसा एक रत्न है उनका दर्शन विषयक दृष्टिकोण। तत्वज्ञान की बात उन्होंने शास्त्रों से भी देखी है और स्वानुभव से भी देखी; इसीलिए दर्शनों का उन्होंने ऐसा सुन्दर दर्शन कराया है जो साक्षर निरक्षर सभी को संतोष दे देता है। जिज्ञासा के बिना तत्व ज्ञान नहीं और जिज्ञासु के बिना जिज्ञासा संभव नहीं है। अतएव 'मैं' का अस्तित्व माने बिना गति नहीं। इसी 'मैं' को शास्त्रीय भाषा में व्यक्तित्वाभिमान कहा जाता है। इसी का नाम समझ लीजिये 'जीव'। श्री शंकराचार्य ने कहा—'जीवः स उक्त आग्रैः योऽहमिति स्फूर्तिकृद् वपुषि।' गोस्वामी जी ने कहा—'जीव धर्म अहमिति अभिमाना।' यह अहम् इति अभिमान—मैं हूं इस अपने व्यक्तित्व का अभिमान—ही जीव का धर्म अथवा विशिष्ट गुण है। इस व्यक्तित्वाभिमान के साथ ही साथ जीव में एक बात और भी है जो दर्शनीय है। वह है उसकी गतिशीलता अथवा यों कहिये कि जीव का जीवन। जीव ससीम है किन्तु असीमता की ओर बढ़ना चाहता है। असीम सच्चिदानन्द ही प्रत्येक जीव का आदर्श है। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए वह रागद्वेष द्वारा अपने अनुकूल पदार्थों का संग्रह और प्रतिकूल पदार्थों का त्याग करता चला जाता है। इसी संग्रह तथा त्याग में—'मैं' का 'मेरा तू और तेरा' व्याप्त है। सामान्य मानवी जीवन का व्यापार इसी 'मैं अरु मोर तोर तैं'—तक फैला जिसे शास्त्रकारों ने माया कहा है। 'मैं अरु मोर तोर तैं—माया, जेहि बस कीन्हें जीव निकाया; गो गोचर जहं लगि मनु जाई सो सब माया जानेहु भाई।'

जीव अपने को जितना ससीम बनाकर रखेगा, अथवा यों कहिये कि मैं-पन की बुद्धि जिस हद तक सीमाबद्ध होगी, उस जीव का आदर्श भी

उसके लिए उसी हद तक सीमित हो जायगा। जिसकी मैं पन की बुद्धि अपनी देह तक ही सीमित है वह शीघ्र ही 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' के सिद्धान्त पर उतर आ सकता है। आवश्यक नहीं है कि उसका उतार ही हो वह गिरा तो कहीं व्यभिचारी कहीं डाकू और कहीं हत्यारा हो गया और उठा तो एक अच्छे शासन का एक अच्छा नागरिक बन गया क्योंकि वह इतना तो समझ ही सकता है कि मनुष्य समाजबद्ध प्राणी है और वैयक्तिक अभ्युदय सामाजिक संगठन तथा सहयोग पर ही निर्भर रहा करता है। उसके उत्थान की कसौटी रहती है 'आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।' 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।' 'परहित सरिस धरमु नहिं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।' अतएव प्रायः इसी के आधार पर पाप पुण्य, धर्म अधर्म और सन्त असन्त आदि की व्याख्याएँ की गई हैं। 'परउपकार बचन मन काया, सन्त सहज सुभाव खगराया॥' निकृष्ट देह बुद्धि वाला 'मैं' अपने सहज आदर्श को अपना अनुगामी बनाना चाहता है, उत्कृष्ट देह बुद्धि वाला "मैं" अपने आपको अपने सहज आदर्श का अनुगामी बना देता है। सर्वसाधारण के लिए यही कल्याण मार्ग माना गया है। यही है दासोऽहं भाव।

कई लोग मैं-पन के चेतन आधार को उतना नश्वर नहीं मानते जितना कि अपनी देह को। वे मानते हैं कि उनका जीव इस देह से भिन्न कोई पदार्थ है जो शरीर के नष्ट होने पर भी विद्यमान रहता है। यह मानते ही परलोक, पुनर्जन्म, पाप, पुण्य, परमपद आदि की कल्पनाएँ सामने आ जाती हैं। इस स्थिति में जीव अविनाशी और अपने आदर्श का एक अंश ही कहा जायगा। 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखरासी।' इसमें आराध्य और आराधक का सहज स्नेह प्रत्यक्ष होता है। यही है त्वदंशकः भाव।

कुछ लोग मैं-पन के अर्थ को यहाँ तक तान देते हैं कि उसका अस्तित्व ही उड़ जाता है। उस स्थिति में आदर्श के सिवाय—असीम सच्चिदानन्द के सिवाय—और कुछ रह ही नहीं जाता। जो आत्मा सो परमात्मा। जो महा-

शून्य वही परब्रह्म। शंकराचार्य ने कहा—'खरतर करैः दीप्तेऽभ्युदिते चैतन्य तिग्मांशौ, स्फुरति मृषैव समन्ता दनेकविध जीव मृगतृष्णा।' गोस्वामी जी ने भी कह दिया—'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथा हेर्भ्रमः।' यही है आत्मबुद्धि वाला त्वमेवाहं भाव।

देहबुद्धया तु दासोऽहं जीवबुद्धया त्वदंशकः
आत्म बुद्धया त्वमेवाहं, इतिमेनिश्चलामतिः॥

यह त्वमेवाहं—भाव वस्तुतः केवल अनुभवगम्य ही हो सकता है क्योंकि जहाँ द्वैत को गुंजाइश तक नहीं है वहाँ कहने और सुननेवाले अलग अलग कहाँ रहेंगे और जहाँ वक्ता श्रोता का द्वैत ही उड़ गया वहाँ वाणी मौन रहने के सिवाय और करेगी ही क्या। अतएव दर्शनों की चर्चा में वाणी के द्वारा केवल मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि जीव का अपने आदर्श की ओर सहज आकर्षण होता है (ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू) और इसी आकर्षण से प्रेरित होकर वह राग द्वेष के मैदानों से होता हुआ गतिशील रहता है। इस आकर्षण के दो रूप हैं एक का नाम रखा गया माया जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, और दूसरे रूप का नाम रखा गया भक्ति। माया के आकर्षण में अहं (मैं) की प्रधानता रहती है न कि सहज आदर्श की ('मोर तोर तैं' बंधा रहता है 'मैं' के साथ) और भक्ति के आकर्षण में सहज आदर्श की प्रधानता रहती है न कि अहं की। माया इसीलिए दुर्गति देनेवाली है और त्याज्य है, भक्ति इसीलिए प्रगति देनेवाली है और ग्राह्य है। माया जीव को नचाती रहती है, भक्ति उसे बंधन मुक्त करती रहती है। (देखी माया सब विधि गाढ़ी, अतिसभीत जोरे कर ठाढ़ी। देखा जीव नचावइ जाही, देखी भगति जो छोरै ताही।) जीव के लिए कहना कि 'तुम भगवान (अखण्ड असीम आदर्श) के अनुगामी हो अतएव अपने अनुराग को उसी मार्ग में चरितार्थ करते जाओ'—यही सहज दर्शन है जो गोस्वामी जी के भक्तिमार्ग में अपनी पूरी छटा दिखा रहा है।

मैं-पन को मिथ्या समझ लेना ही ज्ञान मार्ग है, मैं-पन से अनासक्त हो

जलना ही कर्ममार्ग है और मैं-पन को आदर्श में तन्मय करा देना ही भक्तिमार्ग है। तीनों मार्ग वस्तुतः एक ही मार्ग के भिन्नभिन्न रूप हैं। भेद है तो देखनेवालों की अपनी-अपनी निगाह के कारण। ठीक, इसी तरह, सत्य को मैं-पन की निगाह से देखने पर हम पुरुष की ऊहापोह में लग जाते हैं तू-पन की निगाह से देखने पर प्रकृति की ऊहापोह में लग जाते हैं और वह-पन की निगाह से देखने पर परमात्मा की ऊहापोह में लग जाते हैं। सत्य एक ही है जो सार्वदेशीय रहेगा और सार्वकालिक भी रहेगा। निगाहों का यह प्रपंच ही हमें अनेक दार्शनिक वादों के दर्शन कराता रहता है। कोई कहते हैं पुरुष प्रकृति परमात्मा अथवा जीव माया ब्रह्म तीनों सत्य हैं, कोई कहते हैं दो सत्य हैं, कोई कहते हैं एक सत्य है, कोई कहते हैं तीनों झूठ हैं और कोई कहते हैं कि वे झूठ भी हैं सच भी हैं। यह सब दिमागी क़वायद है। असलियत को देख लेना दिमाग़ का काम नहीं। वह तो तर्क वितर्क के सहारे शब्द जाल ही खड़े कर सकता है। असलियत तो अनुभव गम्य होती है। इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा—'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानैं। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥'

रामकथा की लपेट में दिया हुआ गोस्वामी जी का दूसरा सांस्कृतिक रत्न है उनका व्यवहार-विषयक दृष्टिकोण। व्यवहार में उन्होंने साधुमत और लोकमत दोनों को एक साथ समेटा है। मन, वाणी और क्रिया अथवा भावना, जिज्ञासा और चिकीर्षा से मिलती जुलती तीन बातें—प्रभु प्रेम, नाम जप और सत्संग—यदि उन्होंने साधुमत के लिए (व्यक्तिगत साधना-मार्ग के लिए) अनिवार्य बतायीं तो इन्हीं तीनों से मिलती जुलती तीन बातों—अहिंसा, सत्य और परहितव्रत को उन्होंने लोकमत के लिए (समाजगत साधना मार्ग के लिए) परम धर्म कहा है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए ये परम धर्म आचरणीय हैं। ये ऐसे परम धर्म हैं—जो किसी भी देश और किसी भी काल के मानव के लिए कभी प्रतिकूल हो ही नहीं सकते।

प्रत्येक मनुष्य इन परम धर्मों का निर्बाध पालन कर सके इसके लिए

आवश्यक है कि राजव्यवस्था भी उत्तम हो। अतएव गोस्वामी जी ने केवल धर्म्मनीति के ही नहीं किन्तु राजनीति के भी सुन्दर स्वस्थ तत्व दिये हैं। उनका रामराज्य तो दर्शनीय है ही परन्तु साथ ही राजनीति विषयक उनकी सूक्तियाँ भी सभी देशों और सभी कालों के लोगों के लिए मननीय हैं।

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।'

'जो पंचहि मत लागहि नीका, करहु हरषि हिय रामहि टीका॥'

'परिजन प्रजहु चहिय जस राजा।'

'सचिव विरागु विवेकु नरेसू, विपिन सुहावन पावन देसू।
भट जम नियम सैल रजधानी, सान्ति सुमति सुचि सुन्दर रानी।
सकल अंग सम्पन्न सुराऊ, रामचरन आस्रित चित चाऊ॥
जीतिमोह महिपाल दल, सहित विवेक भुवालु।
करत अकंटक राज्यपुर, सुख सम्पदा सुकालु॥'

'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी, माधव सरिस मीत हितकारी।
चारि पदारथ भरा भँडारू, पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥'

'मुखिया मुख सो चाहिये खान पान महं एक,
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥
राज धरम सरबसु इतनोई, जिमि मन माहं मनोरथ गोई॥'

आदि आदि न जाने कितने सुन्दर उद्धरण उनके ग्रंथों से दिये जा सकते हैं। अन्तिम उद्धरण के संबंध में हमने अपने अन्य ग्रंथ 'मानस में रामकथा' में कुछ चर्चा की है। कितनी सारगर्भ है यह सूक्ति। 'राजधर्म सरबसु इतनोई, जिमि मन माहं मनोरथ गोई॥'

गोस्वामी जी ने व्यवहार में न जाने कितने विरोधी तत्वों का सुन्दर समन्वय करके रख दिया है। बुद्धिवाद और शास्त्रवाद (श्रद्धाविश्वास वाद) के द्वन्द्व का, भूलोक प्रेम और गोलोक प्रेम के द्वन्द्व का, साधुमत और लोकमत के द्वन्द्व का, कृपावाद (दया) और क्रियावाद (न्याय) के द्वन्द्व का, तथा इसी प्रकार के न जाने कितने द्वन्द्वों का, उन्होंने हंसते खेलते समन्वय

कर डाला है। वह समन्वय किसी अघोरी की झोली का सा नहीं किन्तु किसी जीवित शरीर के मुख और पेट का सा है जो अनुकूल पथ्य का ही समन्वय करता है और उसमें भी सामंजस्य की एक अपूर्वता भर देता है।

रामकथा की लपेट में गोस्वामी जी का दिया हुआ तीसरा सांस्कृतिक रत्न है उनका साहित्य विषयक दृष्टिकोण। किसी भी मानव-समाज की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण साधन होता है साहित्य। वैदिक संस्कृति का संकेत दे सकने वाली वस्तुएं इस समय उपलब्ध नहीं परन्तु उसका संकेत ही नहीं पूरा परिचय तक दे सकने वाला वैदिक साहित्य अवश्य वर्तमान है। वस्तु, वाणी और व्यवस्था (संस्था) ही के द्वारा तो किसी मानव-समाज की संस्कृति का पता चलता है और जबकि वस्तुएँ नष्ट हो जा सकती हैं, तथा व्यवस्थाएँ मन माने ढंग पर बदल जा सकती हैं, वाणी परम्परागत स्वरबद्ध होकर (जैसा कि वेदपाठ के विषय में हुआ है) अथवा लिपिबद्ध होकर (जैसा अन्य शास्त्रों और काव्यों के विषय में हुआ है) हजारों लाखों वर्षों तक अपना अक्षरत्व स्थापित रख सकती है। अक्षर-साधन में भी जैसा कि हम पहिले कह आये हैं 'शास्त्र' अपने अपने विषय का ही परिचय दे सकने के कारण मानव जीवन के खण्डों का ही बोध करा सकता है परन्तु 'काव्य' (साहित्य) पूरे मानव जीवन का ही परिचय देने की क्षमता रखता है। वह न केवल अतीत और अपने समय की वर्तमान संस्कृति का प्रतिबिम्ब ही रहता है किन्तु उज्वल सांस्कृतिक भविष्य के स्वस्थ संकेत भी देता रहता है। अतएव जो सज्जन जितना उत्तम साहित्य रच सकेगा उसकी सांस्कृतिक देन उतनी ही ऊंची और उतनी ही महत्वपूर्ण समझी जायगी।

साहित्य एक ललित कला है, अतएव उसका प्रत्यक्ष संबंध आनन्द से है। परन्तु वह केवल कलामात्र ही नहीं है, वह विचार भी तो देता है और चरित्र के उत्कर्ष का साधन भी तो बन सकता है। उसका वास्तविक ध्येय ऐसा आनन्द नहीं हो सकता जो सत् और चित् से रहित हो। मानवी आदर्श

में सत् चित् आनन्द अभिन्न रूप से स्थित हैं। साहित्य की कला भी इसीलिए केवल कला के लिए नहीं किन्तु जीवन के लिए रहा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। इस उपयोगिता के बिना वह कला किसी काम की नहीं। अतएव कला के विविध वादों की उलझन में पड़कर उसका यह प्रकृत उद्देश्य कभी न भुला बैठना चाहिए, यह गोस्वामी जी का अभिप्रेत रहा है।

वे जानते हैं कि:—

'आखर अरथ अलंकृति नाना,
छन्द प्रबंध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा,
कवित, दोसगुन विविध प्रकारा।'

हैं, अतः इन अपार भेद प्रकारों की ऊहापोह में पड़कर यह न भूलना चाहिए कि:—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुर सरि सम सब कहं हित होई।
सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं,
सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।'

वे साहित्य को एक बड़ी साधना मानते हैं। और सत्साहित्य की प्रतिभा को ईश्वरीय प्रसाद समझते हैं।

सारद दारु नारि सम स्वामी,
राम सूत्रधर अंतर यामी,
जेहि पर कृपा करहिं जनजानी, कवि उर अजिर नचावहिं बानी।

इसीलिए काव्यशास्त्र की मीमांसा सी करते हुए वे कहते हैं:—

हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना
जो बरखइ बर बारि बिचारू, होहिं कवित मुकुता मनि चारू।

जुगुति बेधि पुनि पोहियहि रामचरित बरताग,
पहिरहिं सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग ।।

कितने ऊंचे तत्व भरे हुए हैं उनकी इस मीमांसा में । इसमें अनुभूति-(हृदय सिंधु), चिन्तन (मतिसीप) और प्रतिभा (स्वाती सारद) के सब तत्व आ गये हैं हितयुक्त काव्य-ध्येय (बरवारि) आ गया है, उत्कृष्ट भाव व्यंजना की चर्चा (कवित मुकता मनि) आ गई है। अभ्यास (जुगुति बेधि) और अध्ययन तथा अनुभव (रामचरित बरताग) की बातें आ गई हैं, और, भावयित्री प्रतिभा वाले सहृदय श्रोताओं (सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग) का भी स्वरूप विवेचन हो गया है ।

इस मीमांसा की कसौटी पर कसकर उन्होंने जो वस्तु दी है वह है:—

बुध विश्राम, सकल जन रंजनि,
राम कथा कलिकलुष विभंजनि ।

सर्वसाधारण को हृदयह्लाद देनेवाली परन्तु साथ ही विशिष्ट विद्वानों को पूर्ण समाधान दे सकनेवाली ऐसी रचना जो कलिसंभूत आमय, अज्ञान और अभाव के त्रितापों का भंजन करके मानवजीवन का परम हित साध सके। हर आम और खास की खास चीज बन गई वह ।

गोस्वामी जी की भाषाशक्ति, उनकी विचार शक्ति, उनकी अभि-व्यंजना शक्ति, उनकी न जाने किन किन शक्तियों के योग से उनका काव्य इतना उत्तम और अपूर्व हो गया कि आलोचक बरबस कह उठा:—

कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला ।

उनकी एक एक पंक्ति में कमाल है, एक एक उक्ति में कमाल है, एक एक उपमा में कमाल है और एकएक शब्द तथा अक्षर तक में कमाल है। हजारों व्यास सैकड़ों वर्षों से उनके रामचरित मानस का रसास्वादन करोड़ों मनुष्यों को कराते आ रहे हैं और फिर भी लोग जितना उस सुधास्वादीय रस का पान करते हैं उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है । असंख्य रत्न उस

मानस की तह से निकाले गये हैं फिर भी वह अक्षय कोष अब भी असंख्य नये रत्नों की राशि लुटा देने की क्षमता रख रहा है।

संस्कृति की अभिव्यक्ति के भिन्न भिन्न अंगों में से तीन प्रधान अंगों की चर्चा हमने की। विज्ञान और दृश्य-कला के अंग भी अपनी प्रधानता रखते हैं परन्तु गोस्वामी जी का वह प्रकृत क्षेत्र न था। इसलिए यद्यपि उन क्षेत्रों में भी गोस्वामी जी का कुछ न कुछ योगदान हुआ ही है, फिर भी हम उसकी विस्तृत चर्चा अनावश्यक समझते हैं। अपने क्षेत्र में गोस्वामी जी ने जो दिया है वह कमाल का दिया है और जितना दिया है उतना, कम से कम हिन्दी संसार में तो, अन्य कोई भी अब तक नहीं दे सका है। ऐसा है भारतीय संस्कृति को उनका योगदान।

गोस्वामी जी की सांस्कृतिक देन की मौलिकता दीमक अथवा मकड़ी की तरह नहीं किन्तु मधुमक्खी की मौलिकता के समान है जो केवल उपयुक्त तत्वों का संग्रह करके उन्हें अपूर्व सरसता प्रदान कर देती है। वह वास्तु विशारद की मौलिकता के समान है जो संसार के ईंट पत्थरों को अपनी कल्पना के नक़शे में इस तरह सजाकर रख देता है कि एक मनोहर महल तैयार हो जाता है। वह मौलिकता सूपाध्यक्ष की मौलिकता के समान है जो विश्व के खाद्य पदार्थों को रुचिसापेक्ष्य अनुकूलता देकर परम सुग्राह्य बना देता है तथा स्वाद और तोष दोनों की सुचारु व्यवस्था कर देता है। वह सद्‌वैद्य की मौलिकता के समान है जो देशकाल पात्र के विवेक से सर्वथा कल्याणकारी औषधि का निर्माण करके महाकष्टसाध्य रोग को भी दूर भगा दे सकता है। तप, यज्ञ और अर्चा के बदले जप, दान और सत्संग सरीखे आसान परन्तु साथ ही बड़े असरदार नुसख़े इस कलिमल ग्रसित समाज के आगे रख देना क्या किसी कम चतुर वैद्य का काम हो सकता था?

गोस्वामी जी की सांस्कृतिक देन का प्रभाव भी खूब पड़ा। लाखों करोड़ों लोगों ने भाषा के क्षेत्र में, काव्य कला के क्षेत्र में, तत्वदर्शन के क्षेत्र में, नीति और व्यवहार के क्षेत्र में, तथा अन्य अनेकानेक क्षेत्रों में भी गोस्वामी

जी से प्रेरणाएँ पाई। [illegible] सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन ने ठीक ही लिखा है कि 'तुलसीकृत रामायण का इतना बड़ा प्रभाव है कि जिसके वर्णन में अत्युक्ति भी स्वभावोक्ति हो जाती है।'[१]

'वह नौ करोड़ मनुष्यों की बाईबिल कही गई है परन्तु वह निश्चय ही उत्तर भारत के प्रत्येक हिन्दू के लिए इतनी सुपरिचित है जितनी सामान्य अंग्रेजी कृषक के लिए बाईबिल भी न होगी।[२] 'धर्म और जीवन चर्या के पथ में गोस्वामी तुलसीदास जी सर्वत्र ही ऋषितुल्य प्रामाणिक पथ प्रदर्शक मान लिये गये हैं।' एक क्या अनेक विद्वानों ने गोस्वामी जी के प्रभाव के संबंध में इस प्रकार अपने मत व्यक्त किये हैं।[३]

गोस्वामी जी की सांस्कृतिक देन के प्रभाव का सब से बड़ा प्रमाण है भारत का हृदय तुल्य मध्य-देश जो हज़ार साल की गुलामी के बावजूद भी पाकिस्तानी न बन सका। उत्तर भारत में सदियों तक इस्लामी शासन का बोलबाला रहा है। क्या क्या अत्याचार नहीं सहे उत्तर भारत के कई सांस्कृतिक केन्द्रों ने। इस्लामी शासन और इस्लामी प्रचार का

[१]Exercises an influence which it would be difficult to describe in exaggerated terms—Journal of the Royal Asiatic Society, 1903.

[२]It has been described as the Bible of ninety millions of people and is certainly more familiar to every Hindu of Northern India than our Bible is to the average English peasant—page 471 Encyclopedia of Religion and Ethics, 1921 Edition."

[३]He is every where accepted as an inspired and authoritative guide in religion and conduct of life—page 541 Encyclopeadia Britanica 14th edition 22nd volume—also repeated by Dr. Carpenter in his Theology of Tulsidas, page 2.

मुख्य केन्द्र रहा है यह हिन्दीभाषी मध्य-देश ही। परन्तु जब कि पश्चिम के पंजाब और पूर्व के बंगाल ने भी विदेशी संस्कृति के आगे घुटने टेक दिये और आज पाकिस्तान बनवाकर ही रहे, हिन्दीभाषी मध्यदेश गोस्वामी जी के स्वर में स्वर मिलाता हुआ 'रघुपति राघव राजाराम' का 'पतित पावन' स्फूर्तिमय संदेश इस विशाल भारत के कोने कोने तक पहुचाता रहा है। भारत ही नहीं, भारत के बाहर भी।

इस आशाप्रद स्फूर्तिमय संदेश की स्नेहसिक्त स्वरलहरी से न केवल शासित हिन्दू ही झूम उठे किन्तु शासक मुसलमान भी प्रभावित हो गये। सभी ने इसे प्रेम से अपनाया। अंग्रेज आये। उन्होंने भी इसका आदर किया और इसका सुरस विदेशों तक को चखाया।

हिन्दी अब अखिल भारत की राष्ट्र भाषा है और महात्मा गांधी के विचार अब अखिल विश्व के मननीय विचार हो गये हैं। गोस्वामी जी के रामचरित मानस को उन्होंने सर्वोत्तम ग्रंथ माना है और हिन्दी भाषा का तो वह निश्चय ही सर्वोत्तम ग्रंथ है। विदेशियों का अनुराग स्वतंत्र भारत की इस राष्ट्रभाषा हिन्दी की ओर अधिकाधिक बढ़ रहा है। अतः महात्मा गांधी के विचारों का अनुशीलन करते हुए तथा हिन्दी के प्रति अनुराग रखते हुए वे स्वभावतः ही रामचरित मानस की ओर आकृष्ट होंगे। इस परिस्थिति में प्रत्येक सभ्य देश में रामचरित मानस का प्रचार प्रसार एक स्वाभाविक व्यापार सा जान पड़ने लगा है। अतएव हमें तो वह दिन भी दूर नहीं जान पड़ता जब संसार के सभी प्रमुख देशों के लोग यह सोचने लगेंगे कि भारतीय संस्कृति ही को नहीं, विश्वसंस्कृति को भी गोस्वामी जी का कैसा कैसा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भगवान करे वह दिन अति शीघ्र आवे।